आदर्श-महात्मागण

चतुर्वेदी द्वारका प्रसाद शर्म्मा

बाबूराव जोशी एम० ए०

कमल प्रकाशन

इन्दौर

बाबूराव जोशी एम०

कमल प्रकाशन
इन्दौर

प्रकाशक
बद्रीलाल मेड़तिया
कमल प्रकाशन
खजूरी बाजार
इन्दौर

प्रथम संस्करण
जनवरी, सन् १९५९
मूल्य ३·०० रु०

मुद्रक
श्यामकुमार गर्ग
हिंदी प्रिंटिंग प्रेस,
क्वीन्स रोड, दिल्ली

आमुख

'प्रेरणा के प्रदीप' ग्यारह महापुरुषों के जीवन चरित्रों का संग्रह है। यद्यपि महात्मा बुद्ध और ईशुख्रिस्त अवतार माने जाते हैं तथापि एक समय वे भी हमारे जैसे ही आदमी थे और उन्हें भी हमारी ही तरह अनेक कठिनाइयाँ, बाधाओं, दुःखो और विषमताओं के बीच में से गुजरना पड़ा था। उन्होंने पुरुषार्थ के द्वारा अपना रास्ता स्वयं बनाया था और गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर का 'एकला चलो रे' वाला गीत भले ही वे उस समय न गा सके हों किन्तु उनके आचरण में उसी की ध्वनि निकल रही थी।

वेद में एक स्थान पर कहा गया है कि 'आत्मा सत्यकाम है सत्य संकल्प है।' इसका आशय यह है कि हम जो भी सोचें या चाहें उसे प्राप्त कर सकते हैं। हमारी कामना सिद्ध करने में जो शक्ति सहायक होती है उसी को हम परमेश्वर कहते हैं। जान या अनजान में हमने इसी शक्ति का आश्रय लेकर अपनी वर्तमान स्थिति प्राप्त की है तथा भविष्य में भी हम जो स्थिति प्राप्त करेंगे वह इसी शक्ति के आश्रय से। महापुरुषों ने उसका आश्रय या शरण लेकर अवतार जैसा बड़ा-से-बड़ा पद भी प्राप्त कर लिया है और जो अवतार की कोटि तक नहीं पहुँच सके हैं उनका जीवन भी उसी शक्ति अथवा उस शक्ति की किन्हीं विभूतियों के प्रकाश में जगमग है। उन्होंने उस शक्ति का आश्रय विचारपूर्वक किया था। हम उसका उपयोग दृढ़तापूर्वक करते हैं। यही उनमें और हममें अन्तर है। अतः महापुरुषों के जीवन बुद्धिपूर्वक समझकर और उनका अनुकरण करके हम उस परमेश्वर तक पहुँच सकते हैं।

महापुरुषों का यह स्वभाव होता है कि वे किसी बंधे बधाये रास्ते पर नहीं चलते। वे स्वयं अपना नया रास्ता बनाते हैं। वे जिधर चलते हैं उधर रास्ता बन जाता है और वे जो कुछ बोलते हैं वह वेद वाक्य बन जाता है। उनके आचरण साधारण लोगों के लिए प्रकाशस्तम्भ बन जाते हैं।

महापुरुषों के आचरण के प्रकाशस्तम्भ से हम अपना सारा जीवन जगमगा सकते है। 'The prope rstudy of man is man' वाली कहावत के अनुसार महामानवों के ये जीवन चरित्र हमारे सबसे बड़े खजाने है। वे ही उन्नत, समृद्ध और पवित्र जीवन की कुंजी है हमारे जीवन को ऊँचा उठाने वाली सभी बातें उनमे विद्यमान है। उनका सबसे बड़ा सन्देश यही है कि यदि हम भी चाहें तो उनकी ही तरह पवित्र, साहसी, परिश्रमी, तेजस्वी, निष्काम और बुद्धिशाली बन सकते है। हम महात्मा बुद्ध और ईसा की तरह अपनी करुणावृति का विकास कर सकते है तो कोलम्बस की दृढ़ता और साहस का भी। हम गांधीजी, अब्राहम लिंकन और महर्षि कर्वे की तरह सेवा भावना और मानवता का विकास कर सकते है तो कार्ल मार्क्स, आइन्स्टाइन की तरह परिश्रम प्रियता, लगन और बुद्धिशालिता का भी। वस्तुतः साहस, परिश्रम, सहिष्णुता, औदार्य, मानवता, सत्य, अहिंसा, सेवा और लगन ऐसे गुण हैं जो प्रत्येक महापुरुष के जीवन में मिलते हैं। इनमें से २-३ गुणो की ही साधना व्यक्ति में अन्य गुण भी ले जाती है और उसे महापुरुष बना देती है।

यद्यपि किसी भी महापुरुष की जीवन कहानी १०-१५ पृष्ठों में कह देना सरल नही होता। उसमें जहाँ जीवन की सभी प्रमुख घटनाओं का वर्णन करना पड़ता है वहाँ उसके सन्देश या जीवन कार्य पर भी प्रकाश डालना पड़ता है। मैंने इन दोनो बातों के साथ-साथ जहाँ-तहाँ उनके जीवन के प्रेरणादायी स्थलों को विशेष रूप से स्पर्श करने का प्रयत्न किया है ताकि वे बालकों में नवीन प्रेरणा, स्फूर्ति या चेतना भर सकें। यदि हमारे विद्यार्थी इन जीवन चरित्रों से कुछ प्रेरणा लेते है और महापुरुषों के अन्तर, वाह्य की झांकी देख पाते हैं तो मैं अपने प्रयत्न को सफल मानूंगा।

बाबूराव जोशी

अनुक्रमणिका

प्रेरणा के प्रदीप

भगवान बुद्ध

: १ :
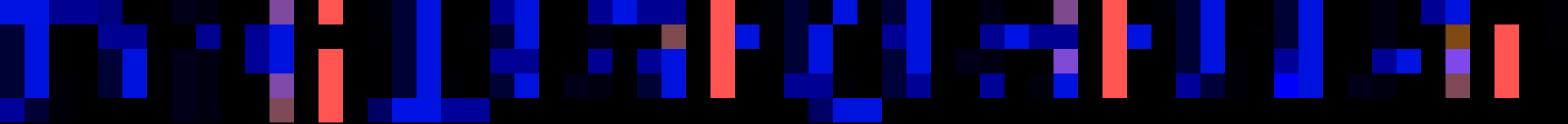
महात्मा बुद्ध

"मैं तो बुद्ध का पुजारी हूँ। बौद्ध धर्म के नाम वाली चीज भले ही हिन्दुस्तान से दूर होगई हो मगर बुद्ध भगवान का जीवन और उनकी शिक्षाएँ तो हिन्दुस्तान से दूर नहीं हुए हैं।"

—गांधीजी

आवेग क्रोध का सके थाम, जो पथ विचलित रथ के समान।
सारथी कहाता वही सत्य, हैं अन्य रश्मि ग्राहक अजान॥
यह नियम सनातन, एक बैर करता न दूसरे का अभाव।
निर्बैर भावना से जग में होता सब शान्त विरोध भाव॥
संग्राम भूमि पर जय पाता, कोई कर लाखों को सभीत।
पर सत्य समर विजयी है वह जो स्वयं आपको चुका जीत॥

—धम्मपद

धम्मपद की उपर्युक्त शिक्षाएँ जो महात्मा बुद्ध ने लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व दी थी, आज भी हमारे लिए उतनी सत्य है, उतनी ही पवित्र और उतनी ही मूल्यवान है। उन्होंने हमें यह मन्त्र दिया कि हम विश्व-विजय किस प्रकार कर सकते हैं। उनके सन्देश का प्रभाव केवल भारत पर ही नहीं पड़ा, सारी दुनिया उनकी ओर आकर्षित हुई और उसका एक बहुत बड़ा भाग उनका अनुयायी बन गया। आज यद्यपि उनको निर्वाण प्राप्त किए ढाई हजार वर्ष बीत चुके हैं तथापि दुनिया में जो लड़ाई-झगड़े और कशमकश चल रही है उसके हल के लिए उन्हीं का दिखाया हुआ मार्ग आशा का सचार करता हुआ प्रतीत होता है। अब दुनिया के सारे विचारक उसी परिणाम पर पहुँच रहे हैं जिस पर महात्मा बुद्ध ढाई हजार

वर्ष पूर्व पहुँच चुके थे। उन्होंने कहा था—

"अक्रोधेन जयेत क्रोधं, असाधुं साधुना जयेत
जयेत कदर्यं दानेन सत्येन अनृतं जयेत"

क्रोध को अक्रोध से जीतो, असाधुता को साधुता से। कंजूसी को दानशीलता से जीतो और असत्य को सत्य से। वैसे यह बात बड़ी सीधी-सी लगती है लेकिन इसमें दुनिया की बड़ी-से-बड़ी समस्या का सरलतम हल समाया हुआ है—ऐसा हल जिससे चारों ओर कल्याण ही हो सकता है।

महात्मा बुद्ध ने क्रोध, असत्य, असाधुता और अनुदारता को कभी अच्छा नहीं बताया। उन्होंने इनको दूर करने के लिए सदैव अक्रोध, सत्य, साधुता और औदार्य का प्रश्रय लेने पर जोर दिया। उनका यह सन्देश इतना महान और इतना महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ कि दुनिया के सभी महापुरुष थोड़े बहुत हेरफेर के साथ वही बात दुहराते रहे तथा आज भी गांधी, विनोबा आदि महापुरुष हमें वही बात कह चुके हैं, कह रहे हैं। दुनिया के सभी बड़े-बड़े नेता, शासक और विचारक आज इस बात को बड़ी तीव्रता से अनुभव कर रहे हैं कि एटम और हाइड्रोजन बमों से दुनिया की समस्या हल नहीं हो सकती। उससे तो स्थिति और विषम बनती जायगी। अब यदि कोई मार्ग हो सकता है तो वही जो महात्मा बुद्ध ने हमें ढाई हजार वर्ष पूर्व बताया था।

प्राचीनकाल में नेपाल की तराई में कपिलवस्तु नामक एक छोटा सा राज्य था। इस राज्य की नींव महर्षि कपिल की आज्ञा से उन्हीं के नाम पर इक्ष्वाकु वंशी राजा सुजात के पांच राजकुमारों ने डाली थी। पीछे से इस वंश के राजा शाक्य कहलाने लगे। महाराजा शुद्धोधन शाक्य वंश में एक बड़े प्रतापी और धर्मात्मा राजा हुए। उनकी दो रानियां थीं—महामाया और प्रजावती महामाया पट

रानी थी। जब महाराज शुद्धोधन पैंतालीस वर्ष के हो गए तब महामाया गर्भवती हुई और उनके गर्भ से बैशाख की पूर्णिमा के दिन ईसा के ५५० वर्ष पहले महात्मा बुद्ध का जन्म हुआ। उनके जन्म के समय राज्य में बड़े-बड़े शुभ शकुन हुए। अतः ज्योतिषियों ने उनका नाम सिद्धार्थ रखा। सिद्धार्थ शब्द का अर्थ है—सब कामों को सिद्ध करने वाला। राजा ने इस अवसर पर बड़े-बड़े यज्ञ किये और ब्राह्मणों तथा गरीब लोगों को जी भरकर दान दिया। राज्य भर में उत्सव मनाए गए और बालक की दीर्घायु के लिए प्रार्थना की गई। किन्तु जब एक ओर उत्सवों की धूम थी तब दूसरी ओर पटरानी महामाया रोग-ग्रस्त होकर अन्तिम सांसें भर रही थी। पुत्र-जन्म के सातवें दिन ही वे परलोक सिधार गईं। अब नवजात शिशु के पालन-पोषण का सारा भार विमाता प्रजावती के ऊपर आगया। उन्होंने बड़ी सावधानी और प्रेम के साथ इस उत्तरदायित्व को पूरा किया।

उस समय की प्रथा के अनुसार सिद्धार्थ ने गुरू के घर रहकर शिक्षा प्राप्त की और थोड़े ही समय में शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त कर लिया। कुछ समय बाद समावर्तन संस्कार हुआ और वे अपने पिता के साथ रहने लगे। उन दिनों देश में प्रतिवर्ष वर्षा के आगमन पर हल जोतने का उत्सव हुआ करता था जिसमें राजा भी सम्मिलित होता था। पिता के साथ सिद्धार्थ भी यह उत्सव देखने गये। उन्होंने देखा कि हल चलाने के लिए बैलों को बुरी तरह पीटा जाता है। पशुओं के प्रति लोगों के इस दुर्व्यवहार को देखकर उनकी आँखों में आँसू छलछला आए और वे उस स्थान से हटकर एक पेड़ के नीचे आँखें मूंदकर बैठ गए। बड़ी देर तक वे पशुओं को इस कष्ट से त्राण देने के उपायों पर विचार करते रहे।

इन्हीं दिनों,एक और घटना घटी। जब वे जंगल में घूम रहे थे

तो उन्होंने आकाश में एक सुन्दर हंस-पंक्ति देखी । वे उसकी सुन्दरता को मन-ही-मन सराह रहे थे कि अचानक एक तीर एक हंस को लगा और वह जमीन पर गिर पड़ा । सिद्धार्थ दौड़े और उन्होंने उस छटपटाते हुए हंस को अपनी गोद में उठा लिया । उन्होंने बड़ी सावधानी से तीर को अलग किया और उसके शरीर को सहलाते हुए जख्मों पर मरहम लगाया । उसकी छटपटाहट और वेदना का अनुभव करके उनका हृदय टूक-टूक हो गया । शिकारी देवदत्त तुरन्त राजकुमार के पास आया और आहत हंस को मांगने लगा । राजकुमार ने उसे देने से इन्कार कर दिया । मामला इतना बढ़ा कि शिकायत महाराज शुद्धोधन तक पहुँची । महाराज बड़े सोच में पड़े । एक वृद्ध मंत्री ने कहा, हंस को राजदरबार के बीच में छोड़ दिया जाय और राजदरबार के दो अलग छोरों पर खड़े होकर राजकुमार सिद्धार्थ एव देवदत्त उसे बारी-बारी से पुकारें । पक्षी जिस किसी के पास चला जाय, उसी को दे दिया जाय । यह सुझाव सबको पसन्द आया । बस, हंस बीच दरबार में छोड़ दिया गया । पहले देवदत्त ने उसे पुकारा, किन्तु उसकी आवाज सुनते ही वह सहम गया । वह इतना डरा कि देवदत्त की ओर देखा भी नहीं । इसके बाद सिद्धार्थ की बारी आई । उन्होंने ज्योंही पुकारा वह धीरे-धीरे सरकता हुआ उनके पास पहुँच गया और गोद में बैठ गया । इस दृश्य को देखते ही सारी राज सभा राजकुमार की जय-जयकार से गूंज उठी ।

जैसे-जैसे राजकुमार युवा होते गये वैसे-वैसे इस प्रकार की अनेक बातें उनके मन में चुभती गईं । इनको देखकर वे बड़े दुःखी होते और इन्हें दूर करने के उपाय सोचने लगते । धीरे-धीरे वे इस नतीजे पर पहुँचे कि यह संसार दुःखों का घर है । रोग, बुढ़ापा और मृत्यु प्रत्येक प्राणी के पीछे छाया की तरह चलते रहते हैं । अतः आदमी का

मनुष्य का काम यही होना चाहिए कि वह इनसे मुक्त होने का प्रयत्न करे। राजकुमार को निरन्तर विचार मग्न देखकर राजा शुद्धोधन बड़े चिन्तित हुए। उन्होंने उनके मन बहलाव के लिए अनेक साधन जुटाये और ऐसा प्रबन्ध किया कि वे कोई करुण दृश्य देखने ही न पायें। लेकिन क्या कभी ऐसा हो सकता था? राजा के सारे प्रयत्न व्यर्थ गए।

एक दिन राजकुमार नगर में घूमने के लिए निकले। इस दिन सारा नगर अच्छी तरह सजाया गया था। वे जिधर से गुजरते फूलों की वर्षा होती। लेकिन इस मान-सम्मान और आमोद-प्रमोद के बीच भी उन्हें एक वृद्ध दिखाई दे ही गया। राजकुमार ने पूछा—"यह कौन है? इसे क्या हो गया है?" सारथी ने उत्तर दिया—"यह बूढ़ा मनुष्य है, राजकुमार! वृद्धावस्था में सबकी यही हालत होती है।" राजकुमार ने पूछा—"तो क्या मुझे भी बुढ़ापा आएगा? मेरी भी यही हालत होगी?" सारथी ने कहा—"क्यों नहीं। बुढ़ापा तो प्रत्येक व्यक्ति को आता है। उससे कौन बच सका है। वह तो शरीर का धर्म है।" राजकुमार बड़े परेशान हुए। बोले—"अब मुझे और ज्यादा घूमना नहीं है। रथ घर ले चलो।" रथ आगे बढ़ा। किन्तु इसी समय कुछ लोग एक शव को ले जाते हुए दिखाई दिए। अब तो उनकी परेशानी और भी ज्यादा बढ़ गई। उन्होंने दुःखी होकर पूछा—"सारथी, यह क्या है? इस आदमी को इस प्रकार उठाकर क्यों ले जाया जा रहा है?" सारथी ने उत्तर दिया—"यह मनुष्य मर गया है। इसे जलाने के लिए श्मशान ले जाया जा रहा है।" कुमार ने चकित होकर पूछा—"क्या मनुष्य को जलाया भी जाता है?" सारथी ने कहा—"हाँ, कुमार प्रत्येक मनुष्य बूढ़ा होता है और मरता है। जब वह मर जाता है तो उसे जलाना ही पड़ता है। सब प्राणियों का यही अन्त होता है। यह तो संसार का अटल नियम है।" अब तो राजकुमार बहुत ही घबरा

गए। विचारों में खोये-खोये घर पहुँचे और कितने ही दिनों तक इस समस्या में उलझे रहे।

राजकुमार की यह स्थिति देखकर महाराज बहुत चिन्तित हुए। उन्होंने सोचा कि अब वे युवा हो रहे हैं। यदि विवाह कर दिया तो सांसारिक भोगविलास में मग्न हो जाएँगे। फिर न वैराग्य भावना पैदा होगी न परेशानी का कोई कारण रह जायगा। उन्होंने देवदह की राजकुमारी गोपा के साथ उनका विवाह करना तय कर लिया। गोपा का ही नाम बाद में यशोधरा हो गया। वह बड़ी सुन्दर और सुशील युवती थी। विवाह होते ही राजकुमार उसके साथ रहने लगे। यशोधरा उनको हर तरह प्रसन्न रखने का प्रयत्न करने लगी और उसका बहुत-सा समय उनकी सेवा में ही बीतता था। यद्यपि यशोधरा के स्नेह और सेवा ने उनको आकर्षित किया किन्तु वह उन पर इस प्रकार न छा सकी कि सब कुछ भूलकर वे उसी में खोये रहते। उनका वैराग्य सम्बन्धी चिन्तन चलता ही रहा। जब-जब वे किसी वृद्ध, रोगी या दुःखी व्यक्ति को देख लेते वैराग्य भावना प्रबल हो जाती और वे सोचने लगते कि 'भोग-विलास व्यर्थ है। जरा-मरण के बन्धन से मुक्त होने का कोई उपाय अवश्य ढूंढना चाहिए।' उन्होंने देखा कि यौवन के पीछे जरा छिपी हुई है, स्वस्थता के पीछे रोग छिपे हुए हैं और जीवन के हास-विलास और रति-रंग के पीछे मरण की काली छाया छिपी हुई है। वे इन दुःखों से मुक्त होने के लिए छटपटाने लगते।

२८ वर्ष की आयु में यशोधरा के गर्भ से एक पुत्र का जन्म हुआ। सारे राज्य में प्रसन्नता की लहर दौड़ गई किन्तु राजकुमार उसमें बह न सके। उनका चिन्तन चलता ही रहा।

इन्हीं दिनों एक बार जब वे उद्यान में घूम रहे थे तो उन्हें एक साधु मिला। राजकुमार ने उससे मुक्ति का उपाय पूछा। साधु ने

कहा—"इसके लिए कड़ी तपस्या की आवश्यकता है। यह तपस्या जितनी जल्दी की जा सके उतना ही अच्छा है। क्योंकि युवावस्था भोग-विलास में बिताकर वृद्धावस्था में मुक्ति के लिए प्रयत्न करना व्यर्थ है। तब न तो शरीर में शक्ति रहती है न बुद्धि में तेजस्विता। इस कार्य के लिए युवावस्था ही सबसे अच्छा समय हो सकता है। अतः समय मत खोओ। अपने लक्ष्य को पाने के लिए अभी से यत्न करो।" यह उपदेश राजकुमार के मन पर गहरा प्रभाव डाल गया। उन्होंने घर छोड़ने का निश्चय कर लिया। वे अपने पिता के पास गये और हाथ जोड़कर कहने लगे—"पिताजी, मैं मुक्ति प्राप्त करने के लिए संन्यास लेना चाहता हूँ। गृहस्थ जीवन व्यतीत करते हुए मुक्ति प्राप्त नहीं की जा सकती। अतः आज्ञा दीजिए।" महाराज अवाक् रह गए। उन्होंने राजकुमार को बहुतेरा समझाया पर कोई प्रभाव नहीं हुआ।

रात्रि के समय राजकुमार को नींद न आई। आधी रात के समय वे बिस्तर से उठ बैठे। सारा राज-भवन निद्रा में मग्न था। वे घर से चले जाना चाहते थे किन्तु मोह जैसे पांवों को जकड़े हुए था। उन्हें अपनी पत्नी और बच्चे का स्मरण हुआ। मन में आया कि आखिरी बार तो उन्हें देख ही लेना चाहिए। वे राजमहल में गये। देखा बच्चा अपनी मां के पास सोया हुआ है। प्यारा-प्यारा बालक नींद में भी जैसे हँस रहा था। राजकुमार के मन में आया कि उसका चाँद-सा मुखड़ा चूम ले। किन्तु फिर सोचा—यदि यशोधरा जग गई तो? उसके जगने पर तो जाना ही असम्भव बन जायगा। वह रोए चीखेगी और किसी प्रकार बाहर न जाने देगी। अतः उन्होंने अपने को रोका और मन कड़ा करके बाहर निकल आए।

बाहर आकर उन्होंने अपने सारथी छन्दक को जगाया और उससे

रथ तैयार करवा कर चल पड़े। घनघोर वन में पहुँचकर उन्होंने छन्दक को सारे राजसी वस्त्र आभूषण दे दिये और संन्यासियों का वेश बनाकर पैदल चल पड़े। बेचारा छन्दक बहुत रोया पीटा पर राजकुमार ने उसकी एक न सुनी। उधर प्रात:काल राजकुमार के गृह-त्याग की बात बिजली की तरह सारे नगर में फैल गई। सभी शोक-सागर में डूब गये। महाराज ने लोगों को दौड़ाया। कुलगुरु को समझाने भेजा। लेकिन सब व्यर्थ। राजकुमार नहीं लौटे, नहीं लौटे। उन्होंने एक ही बात कही—"मेरे लिए कोई शोक न करे। मैं बुद्धत्व प्राप्त करके ही लौटूंगा।"

इधर राजकुमार वैशाली पहुँचे और वहाँ से राजगृह। उन्होंने वहाँ पहाड़ की कन्दरा में अपना आसन जमाया। नगर से भिक्षा ले आते और शेष सारा समय साधना में व्यतीत करते। एक तो सुन्दर शरीर और निर्मल मन, दूसरे साधना-निरत दिनचर्या। जो कोई भी उस मोहिनी मूर्ति को देखता श्रद्धा से भरे बिना न रहता। धीरे-धीरे यह बात राजा बिम्बसार के पास तक पहुँची। वह स्वयं उनके स्थान पर आया और विनम्रता पूर्वक कहने लगा—"आप तो महान तेजस्वी प्रतीत होते हैं। यह कड़ी तपस्या आपके योग्य नहीं है। मैं अपना आधा राज्य और वैभव आपको सौंपता हूँ। इसका उपयोग कीजिए और गृहस्थ जीवन व्यतीत करके प्रजा पालन कीजिए।" राजकुमार ने कहा—"मेरे पास इन चीजों की कमी नहीं थी। मैं तो इन सब बखेडो को स्वयं ही छोड़कर आनन्द की खोज में निकला हूँ। अब फिर उन मे पड़ना नहीं चाहता।"

राजगृह में वे रुद्रक नामक एक महान पण्डित से मिले और उससे मुक्ति प्राप्त करने का उपाय पूछा। रुद्रक ने उनका समाधान करने का प्रयत्न किया लेकिन उन्हें सन्तोष नहीं हुआ। इसके बाद वे आका-

ऊकालाम नामक एक दूसरे विद्वान के पास गये। वह भी कोई सन्तोष नहीं कर सका। इधर-उधर घूमते हुए वे तपस्या करते रहे। धीरे-धीरे उनके साथ कुछ शिष्यगण भी रहने लगे। अब रुबने कड़ी तपस्या प्रारंभ की। आहार कम करते करते इतना कम कर दिया कि वे केवल एक चावल का दाना ही ग्रहण करनेलगे। शरीर इतना निर्बल हो गया कि चलना-फिरना भी कठिन हो गया। लगातार छः वर्ष तक वे यह कठोर साधना करते रहे। शरीर सूखकर कांटा होगया फिर भी शांति न मिली; अन्त में वे इस परिणाम पर पहुँचे कि उपवास व्यर्थ है। शरीर को कष्ट देने मे कोई लाभ नहीं है। जब उनका यह निर्णय अन्य साथियों ने सुना तो वे सोचने लगे कि सिद्धार्थ का हृदय कमजोर हो गया है। यह उनके पतन का सूचक है। उन्हें छोड़कर वे सब काशी की ओर चले गये।

सिद्धार्थ अकेले ही आगे बढ़ गये। चलते-चलते वे गया के पास एक बोधिवृक्ष के नीचे आकर बैठ गये। प्रातःकाल एक धर्मात्मा सेठ की पुत्री सुजाता उनके पास खीर लेकर आई। उसने बड़ी श्रद्धा से वह खीर उन्हें भेंट की। इस खीर को खाते ही उनकी आँखें खुल गई और शरीर स्वस्थ हो गया। अब उन्होंने प्रण किया कि जब तक ज्ञान प्राप्त नहीं होगा तब तक इसी स्थान पर बैठे रहेंगे। अब वे नियमित रूप से भोजन करने लगे और शरीर रक्षा का भी ख्याल रखने लगे। कामदेव उनकी तपस्या में बाधा उपस्थित करने आया। उसने रीति, प्रीति और तृष्णा नामक कन्याओं को भेजकर उनकी तपस्या भंग करने का प्रयत्न किया किन्तु सिद्धार्थ अडिग रहे। कोई भी शक्ति उन्हे विचलित न कर सकी। उन्होंने कामदेव की सारी सेना को पराजित कर दिया।

अब कुमार की साधना अन्तिम सीमा पर पहुँच गई। उनकी त्याग और तपस्या का पौधा फलने-फूलने लगा। हृदय आनन्द से भर

गया। जन्म-जन्मान्तर के दुःख न जाने कहाँ हवा हो गये। यह वैशाख की पूर्णिमा का दिन था। इसी दिन उन्हें अनेक ऋद्धि-सिद्धियाँ प्राप्त हुई और बुद्धत्व भी प्राप्त होगया। न कोई चिन्ता रही न कोई शोक। अब वे भगवान गौतम बुद्ध बन गये। इसी पवित्र दिन उन्होंने सारे संसार को आनन्द का मार्ग दिखाने का संकल्प किया।

ज्ञान प्राप्त करने के बाद वे सात सप्ताह तक बोधिवृक्ष के पास ही रहे। अब उनके सामने एक ही उद्देश्य था लोगों को धर्म का मार्ग दिखाना। सबसे पहिले उन्होंने काशी जाकर अपने उन्ही पाँच शिष्यों को धर्म का उपदेश देने का विचार किया जिन्होंने उनके साथ गया क्षेत्र में तपस्या की थी। वे काशी गए और उन लोगों से मिले। पहिले तो उन्हें इस बात पर विश्वास ही नही हुआ कि उन्हें बुद्धत्व प्राप्त हो गया है। किंतु जब बातचीत हुई तो वे प्रभावित हुए बिना न रह सके। उन्होंने धर्म का उपदेश ग्रहण करना स्वीकार कर लिया। महात्मा बुद्ध ने उन्हें मध्यममार्ग का उपदेश दिया। उन्होंने कहा कि एक मार्ग है काम वासनाओं में लिप्त रहकर सुखभोग का जीवन बिताना और दूसरा मार्ग है शरीर को नाना प्रकार के कष्ट देकर नष्ट कर देना। ये दोनों दो छोर के मार्ग हैं। अच्छा मार्ग तो वही है जो दोनों के बीच का है। उन्होंने इस मार्ग को मध्यमा प्रतिपदा नाम दिया। उनका यह पहला उपदेश धर्म चक्र प्रवर्तन के नाम से प्रसिद्ध है। इसके बाद तो प्रतिदिन नये-नये व्यक्ति आकर दीक्षा लेने लगे और संघ के सदस्यों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ने लगी।

काशी में भगवान बुद्ध इसिपत्तन नामक स्थान में जिसे आजकल सारनाथ कहते हैं रहे। यहाँ कुछ दिन बिताकर धर्मोपदेश करते हुए वे राजगृह की ओर चले। रास्ते में प्रतिना नदी के किनारे एक सुन्दर आम्र वन आया जिसे अनुपीय वन कहा जाता था। इसी वन

से उन्होंने अपने राजसी वस्त्र आभूषण छन्दक को सौंपकर संन्यासियों के वस्त्र पहिन लिए थे और बेचारा छन्दक हृदय पर पत्थर रखकर वापिस लौट गया था। यहाँ शाक्य वंश के छः राजकुमारों ने उपालि नामक एक नापित के साथ दीक्षा ग्रहण की। सबने ब्रह्मचारी बनकर धर्म प्रचार में अपना जीवन बिताने का संकल्प किया। आगे ये ही राजकुमार बुद्ध के प्रिय शिष्य आनन्द, देवदत्त, उपालि और अनिरुद्ध के नाम से प्रसिद्ध हुए।

अब तो उनकी यश-गाथा चारों ओर फैल गई। महाराजा शुद्धोधन को भी उसकी खबर मिली। अपने पुत्र को इस प्रकार प्रसिद्धि के शिखर पर पहुँचते देखकर उनकी प्रसन्नता का भी ठिकाना न रहा। उन्होंने सदेश भेजा कि एक बार कपिलवस्तु भी पधारें और सब लोगों को धर्म का उपदेश दें। सन्देश पाकर वे कपिलवस्तु के लिए चल पड़े।

उनके आगमन की सूचना पाकर राजा सब नगरवासियों के साथ उनके स्वागत के लिए आये। पिता पुत्र वर्षों के बाद मिले। यह मिलन बड़ा अद्भुत था। उसे देखकर सब लोग गद्गद् हो गये।

राजा अपने पुत्र को भिक्षुक के वेश में देखकर बहुत दुखी हुए। पुत्र ने कहा—"पिताजी आपको तो प्रसन्नता होनी चाहिए। आपका पुत्र सारे संसार को आनन्द का मार्ग दिखा रहा है। इससे अधिक पवित्र कार्य और क्या हो सकता है।"

उनसे मिलने के लिए सारे सम्बन्धी आये, पर देवी यशोधरा न आई। अत. भगवान बुद्ध स्वयं उससे मिलने गए। वह न तो राजसी वस्त्राभूषण पहिने हुए थी न उसने किसी प्रकार का शृङ्गार ही किया था। सादगी और करुणा की उस मूक प्रतिमा को देखकर भगवान बुद्ध भी सहसा अवाक् रह गये। देवी यशोधरा चरणों में गिर पड़ी

और फूट-फूटकर रोने लगी। बाद में जब उसने देखा कि महाराजा शुद्धोदन भी पास ही खड़े हैं तो लज्जा से अलग हट गई।

जिस दिन से भगवान बुद्ध गृहत्याग कर गये थे उसी दिन से यशोधरा ने अपने बाल कटवा दिये थे, आभूषण उतार दिये थे और सादे कपड़े पहिनकर मिट्टी के बरतनों में भोजन करना प्रारम्भ कर दिया था। वे भूमि पर सोती थीं और कठोर जीवन व्यतीत करती थी।

उनकी कड़ी तपस्या देखकर भगवान बुद्ध ने कहा—"देवि, तुम धन्य हो। अपने श्रेष्ठ आचरणों से तुमने जो कुछ प्राप्त किया है वही परम औषधि बनकर तुम्हारे सारे दु:खों को आनन्द में बदल देगा। बड़ी सावधानी से इस दुर्लभ धन की रक्षा करना।"

कपिलवस्तु में हजारों लोगों ने दीक्षा ली। दीक्षा लेने वालों मे राजपरिवार के भी अनेक व्यक्ति थे। उनके चचेरे भाई देवदत्त और पुत्र राहुल ने भी दीक्षा ली। स्त्रियों के द्वारा दीक्षा ग्रहण करने की तो परम्परा ही यहाँ से चली। यहीं सबसे पहले माता गौतमी तथा देवी यशोधरा ने दीक्षा ली और सभी स्त्रियों के लिए धर्म का मार्ग मुक्त कर दिया।

एक बार जब महात्मा बुद्ध राजगृह में थे तब अनाथपिण्डक नामक एक धनी व्यक्ति वहाँ आया। वह बड़ा दानी और परोपकारी था। दुखियों की सेवा करने में उसकी बड़ी रुचि थी तथा वह इसे बड़े मनोयोग से करता था। महात्मा बुद्ध की यशगाथा सुनकर वह भी उनके पास आया और उपदेश सुनकर कृतकृत्य हो गया। महात्मा बुद्ध ने उससे कहा—"सारा संसार नियमों से बंधा हुआ है। यह धर्म के आधार पर ही खड़ा है। अतएव धार्मिक जीवन व्यतीत करके ही आनन्द प्राप्त किया जा सकता है। सम्पत्ति के मोह में फंसे रहकर उसे प्राप्त नहीं किया जा सकता। किन्तु जो व्यक्ति धन के

मोह से दूर है और उसका सदुपयोग करता रहता है उसको घर छोड़ने की आवश्यकता नहीं है। धन कमाना बुरा नहीं है किन्तु उसे परिश्रम से कमाओ और उसके दास मत बनो। आलसी और पुरुषार्थहीन जीवन घृणा के योग्य है।''

अनाथपिंडक ने हाथ जोड़कर कहा—"महात्मन्, मैं कौशल देश का निवासी हूँ। वह बड़ा अच्छा स्थान है। मेरी इच्छा है कि वहाँ एक ऐसा स्थान बनाऊं जो आपके योग्य हो।" भगवान बुद्ध ने उसकी बात मानली और अपने एक शिष्य को उसके साथ भेज दिया।

शिष्य ने श्रीवस्ती में एक ऐसा स्थान पसन्द किया जो वहाँ के राजकुमार का था और जिसे वह देना नहीं चाहता था। जब अनाथ-पिंडक ने बड़ी अनुनय-विनय की तो उसने कहा—जितनी भूमि पर रत्न-बिखेर दोगे उतनी ही भूमि तुम्हें दे दूंगा। अनाथपिंडक ने ऐसा ही किया और राजकुमार ने वह भूमि उसे दे दी। उसने वहाँ एक बड़ा भवन बनाकर भगवान बुद्ध को भेंट कर दिया। जब भगवान उस भेंट को स्वीकार करने श्रीवस्ती आये तब नगर बड़े उत्साह से सजाया गया। नगरवासी चारों ओर से भगवान के दर्शन करने आ गए। उनका उपदेश सुनकर वे निहाल हो गए। हजारों व्यक्तियों ने उनसे दीक्षा ली। इस स्थान का नाम जैतवन विहार रखा गया। महात्मा बुद्ध को यह बहुत प्रिय लगा। यहाँ उन्होंने कई चौमासे व्यतीत किये और संघ को अनेक उत्तम-उत्तम जातक कथाएँ सुनाई थीं। कहा जाता है कि उन्होंने अन्तिम २५ चतुर्मास श्रीवस्ती में ही व्यतीत किये। बौद्ध धर्म के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'त्रिपिटिक' इसी समय के उपदेशों से भरे पड़े हैं।

महात्मा बुद्ध को अपने जीवन में जहाँ अपार यश प्राप्त हुआ वहाँ कुछ विरोधों का भी सामना करना पड़ा। देवदत्त के साथ उनका विरोध बड़ा प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि देवदत्त यशोधरा देवी के

भाई थे। वे महात्मा बुद्ध के शिष्य तो बन गए थे किन्तु मन-ही-मन उनसे ईर्ष्या रखते थे। ख्याति प्राप्त करने की दृष्टि से उन्होंने संघ के नियमों में अनेक दोष बताना प्रारंभ किया। वे राजगृह गए और राजा बिम्बसार के पुत्र अजातशत्रु के पास रहने लगे। अजातशत्रु ने उनके लिए एक विहार बनवा दिया। देवदत्त ने अपना एक नवीन सम्प्रदाय बनाने का प्रयत्न किया। जब महात्मा बुद्ध यहाँ आये तो देवदत्त उनसे मिले और इन नवीन संशोधनों की स्वीकृति मांगी। उनके बहुत से नियम कड़े थे और उनमें शरीर को कष्ट देने पर अधिक जोर दिया गया था। महात्मा बुद्ध ने कहा कि "शरीर अवश्य पापमय है किन्तु इसको नष्ट करने का प्रयत्न अच्छा नहीं कहा जा सकता। वह सुकार्यों का भी साधन है। जिस दीपक में तेल-बत्ती न रहेगी वह शीघ्र ही बुझ जायगा। अतः न अधिक सुखोपभोग अच्छा है न व्रत उपवास आदि के द्वारा शरीर को कष्ट देना।" देवदत्त को इस उत्तर से बहुत बुरा लगा। उसने अजातशत्रु को अपने पिता के विरुद्ध षड्यन्त्र रचने के लिए भड़काया और जब षड्यन्त्र सफल हो गया तथा अजातशत्रु राजा बन गया तब उसे महात्मा बुद्ध की हत्या करने के लिए भड़काया। अजातशत्रु उसके बहकावे में आ गया। उसने हत्यारों को भेज दिया। किन्तु जब वे महात्मा बुद्ध के पास पहुँचे तो सारा बैर-भाव ही भूल गए और उनके शिष्य बन गए। इसके बाद उन्हें मारने के और भी उपाय किए गए किन्तु किसी भी प्रकार सफलता न मिली। अन्त में स्वयं अजातशत्रु उनकी शरण में आया और शिष्य बन गया।

महात्मा बुद्ध के युग में एक अंगुलीमार डाकू था। वह जिस किसी को लूटता उसकी दो उँगलियाँ काट लेता था। चारों ओर उसका आतंक फैल गया था। एक बार उसने भगवान बुद्ध को ही पकड़ लिया। किन्तु जब उनका तेजस्वी रूप देखा तो स्तब्ध रह गया उसके हृदय

ने सद्विचारों का उदय हुआ और उसने भी उनका शिष्यत्व ग्रहण कर लिया। अब वह भिक्षा मांगने निकला। लोगों ने समझा यह भी डाका डालने की ही कोई नई चाल है। सारे नगर निवासी उस पर टूट पड़े और लाठियाँ मार-मार कर उसका शरीर छलनी बना दिया। भगवान बुद्ध ने उसे उठाया और सेवा-सुश्रूषा करके स्वस्थ बनाया। इसके बाद वह एक बहुत अच्छा साधु बन गया। भगवान बुद्ध ने ऐसे कितने ही पतितों का उद्धार किया। उन्होंने उन्हें पाप पंक से निकाल कर समाज का एक महत्त्वपूर्ण अंग बना दिया।

अब धर्म का प्रचार करते-करते उनकी आयु ८० वर्ष हो रही थी। वे पर्यटन करते हुए पावा आये। उनके आगमन का समाचार सुनकर चुन्द नामक लोहार आया और उसने अपने घर भोजन करने का निमन्त्रण दिया। महात्मा बुद्ध ने उसे स्वीकार कर लिया। वे भोजन करने गए किन्तु वहाँ कुछ ऐसी चीजें परोसी गई जिन्होंने उनके स्वास्थ को गिराना प्रारम्भ कर दिया। वे पावा से कुशीनगर की ओर चल दिए। स्वास्थ गिरता गया। उन्हें आँव के दस्त शुरू हो गए किन्तु वे अपूर्व शान्ति के साथ पर्यटन करते रहे। मार्ग में कुकत्था नदी के किनारे चुन्द के ही एक आम्रवन मे थोड़ा विश्राम करके वे कुशीनारा की ओर बढ़ गए। अब उनका रोग इतना बढ़ा कि जीवन की आशा न रही। उन्होंने हिरण्यवती नदी तो पार करली किन्तु आगे जाना असंभव प्रतीत होने लगा। वहाँ दो शाल वृक्षों के नीचे उनके लिए एक चारपाई बिछादी गई। वे उत्तर की ओर सिराहना करके लेट गए। यह उनका अंतिम लेटना था।

अन्तिम समय देखकर उनका प्रिय शिष्य आनन्द रोने लगा। उसे इस बात का पश्चाताप हो रहा था कि मैंने पूर्णज्ञान तो प्राप्त ही नहीं किया और बुद्धदेव निर्वाण प्राप्त करने जा रहे हैं। भगवान ने उसे पास

बुलाया और कहा——"आनन्द, जो वस्तु उत्पन्न होती है उसका नाश अवश्यम्भावी है। इसलिए दुःख न करके अपना कार्य सच्चाई के साथ करते रहो। यही निर्वाण का मार्ग है।" उनके मरणासन्न होने का समाचार बिजली की तरह चारों ओर फैल गया। हजारों व्यक्ति इकट्ठा होने लगे। भगवान ने कहा कि यदि किसी को कोई शंका रह गई हो तो वह प्रश्न पूछ सकता है। लोगों ने प्रश्न किए और उन्होंने उनका समाधान किया। फिर उन्होंने आनन्द से कहा—"मेरे बाद यह न सोचना कि तुम्हारा कोई गुरु नहीं है। संघ के नियम और सिद्धान्त ही तुम्हारे गुरु रहेंगे, वे ही तुम्हारा मार्गदर्शन करेंगे।" इसके बाद उन्होंने अन्तिम समय एक बार फिर लोगों से कहा कि यदि किसी को कोई शंका हो तो प्रश्न पूछ ले। इस बात को उन्होंने तीन बार दुहराया किन्तु तीनों बार किसी ने कुछ न पूछा। भगवान और उनके शिष्य आनन्द दोनों को ही इससे बड़ी प्रसन्नता हुई। अन्त में उन्होंने कहा—"सब वस्तुओं में नाश लगा हुआ है। अतः अपनी मुक्ति के लिए पूरे परिश्रम के साथ यत्न करते रहना।" अब वे समाधिस्थ होकर निर्वाण को प्राप्त हो गए।

इस स्थान पर सात दिन तक नृत्य गान होता रहा। हजारों स्त्री-पुरुषों ने जो दूर-दूर से आये थे उसमे भाग लिया। आठवें दिन उनका अन्तिम संस्कार किया गया। उनकी अस्थियों को आठ भागों में विभाजित कर मगध, वैशाली, कपिलवस्तु अल्लकप्प, रामग्राम, वेदपीठ, पावा एवं कुशीनगर भेजा गया जहाँ उपर्युक्त स्थानों पर उन्हें रखकर उन पर स्तूप बनवाये गये।

महात्मा बुद्ध के समय समाज में तीन प्रकार के लोग थे। पहले वे जो ऐहिक सुखों में लिप्त थे। वे मद्यपान करते थे और विलास का जीवन बिताते थे। दूसरी प्रकार के लोग यद्यपि ऐहिक सुखों की उपेक्षा

इच्छे थे तथापि स्वर्ग में उन्हीं को प्राप्त करने की लालसा से मूक प्राणियों की बलि देकर देवताओं को प्रसन्न करने में लगे रहते थे। तीसरे प्रकार के लोग शरीर का अन्त होने तक दमन के मार्ग पर ही चलते रहना चाहते थे। महात्मा बुद्ध ने कहा कि इन तीनों मार्गों में अज्ञान है। श्रेष्ठता मध्यममार्ग ही हो सकता है। मध्यममार्ग से उनका आशय था चार आर्य सत्यों के ज्ञान से। ये चार आर्य सत्य इस प्रकार हैं—

(१) जन्म, जरा, व्याधि,मरण, अनिष्ट संयोग और इष्ट वियोग ये पांच दुःख रूपी पेड़ की शाखाएँ हैं। ये पांचों दुःख रूप हैं, अनिवार्य है। अतः इन्हें सहन करने में ही छुटकारा है।

(२) इनके अतिरिक्त सब दुःख मनुष्य के द्वारा उत्पन्न किये हुए हैं। तृष्णा सब दुखों का मूल कारण है। वह तीन प्रकार की है—संसार के सुखों की, स्वर्ग के सुखों की तथा आत्म-नाश की। इस तृष्णा से प्रेरित होकर ही मनुष्य पाप का आचरण करता है।

(३) तृष्णाओं के निरोध से ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है।

(४) तृष्णाओं का निरोध कर दुःखों का नाश करने के साधन के आठ अंग हैं—सम्यक ज्ञान, सम्यक संकल्प, सम्यक वाचा, सम्यक कर्म, सम्यक आजीविका, सम्यक प्रयत्न, सम्यक स्मृति और सम्यक समाधि।

बुद्धधर्म इन चार आर्य सत्यों पर ही आधारित है। महात्मा बुद्ध का कहना था कि मनुष्य को इन चारों में मन, कर्म और वचन से निष्ठा रखनी चाहिए। इनमें बताये हुए अष्टाङ्ग मार्ग के द्वारा ही मनुष्य निर्वाण प्राप्त कर सकता है। उन्होंने अपने शिष्यों के तीन भेद किए है—गृहस्थ उपासक और भिक्षु। गृहस्थों का धर्म बताते हुए उन्होंने उन्हें पांच अशुभ प्रवृत्तियों से दूर रहने का उपदेश दिया है—

(१) प्राणियों की हिंसा (२) चोरी (३) व्यभिचार (४) असत्य और शराब आदि व्यसन। उन्हें नीचे लिखी हुई शुभ प्रवृतियों में तत्पर रहना चाहिए--(१) सत्संग (२) गुरु, माता, पिता और कुटुम्ब की सेवा। (३) पुण्य मार्ग से धन संचय (४) सन्मार्ग मे दृढता (५) विद्या और कला की प्राप्ति (६) समयोचित सत्य प्रिय और हितकर भाषण (७) व्यवस्थिता (८) दान (९) सम्बन्धियों पर उपकार (१०) धर्माचरण (११) नम्रता, सन्तोष, कृतज्ञता और सहिष्णुता आदि गुणों की प्राप्ति तथा (१२) तपश्चर्या, ब्रह्मचर्य आदि के मार्ग पर चलकर चार आर्य सत्यों के द्वारा मोक्ष प्राप्त करना।

महात्मा बुद्ध के अनुसार उपासक को गृहस्थ धर्म के उपरात महीनों में चार दिन निम्न बातों का पालन करना चाहिए--(१) ब्रह्मचर्य (२) मध्याह्न के बाद भोजन न करना (३) नृत्य, गीत, पुष्प आदि विलास का त्याग और (४) ऊँचे तथा मोटे बिछौने का त्याग।

उनके अनुसार भिक्षु दो प्रकार के हैं--श्रामणेर और भिक्षु। जिनकी आयु बीस वर्ष से कम होती है और इस कारण जो किसी भिक्षु के हाथ नीचे रहते हैं श्रामणेर कहलाते हैं, शेष भिक्षु। भिक्षु की यह तैयारी होनी चाहिए कि वह भिक्षा पर ही जीवन व्यतीत कर सके। वृक्षों के नीचे रह सके, फटे-पुराने कपड़ों से ही शरीर ढंक ले तथा बिना औषधि के ही अपना काम चला ले।

बुद्धधर्म बुद्धिवादी है। महात्मा बुद्ध ने उन्हीं बातों पर श्रद्धा रखने का उपदेश दिया है जो सामान्य नीति-प्रिय मनुष्य की बुद्धि में उतर सकती है। वे ऐसे किसी व्रत, विधि अथवा सिद्धान्त में श्रद्धा रखने को नहीं कहते जो व्यक्ति को सत्य के समान प्रतीत न हो। उन्होंने अपने सम्प्रदाय की नींव किसी कल्पना या वाद के आधार पर

नहीं डाली। हिन्दू और जैन धर्म की भांति बौद्ध धर्म भी पुनर्जन्म में विश्वास रखता है। महात्मा बुद्ध का कहना था कि अनेक जन्म तक प्रयत्न करते-करते कोई भी जीव बुद्ध दशा को प्राप्त हो सकता है। जो जीव बुद्ध होने की इच्छा से प्रयत्न करता है उसे बोधिसत्व कहते है। बुद्ध होने के पहिले अनेक महागुण सिद्ध करने पड़ते हैं। बुद्ध मे अहिंसा, करुणा, दया, उदारता, ज्ञानयोग, कर्म की कुशलता, शौर्य, पराक्रम, तेज, क्षमा आदि सभी श्रेष्ठ गुणों का विकास होना चाहिए। यदि एक भी गुण की कमी रह जाती है तो बुद्ध दशा प्राप्त नहीं हो सकती। उनके अनुसार एक ही जन्म में सब गुणों का विकास नहीं हो पाता। बुद्ध होने की इच्छा रखने वाले व्यक्ति को एक-एक जन्म में एक-एक गुण प्राप्त करना होता है तब कहीं वह जन्मान्तर में बुद्ध बन सकता है। गौतम बुद्ध ने अनेक जन्म तक साधना करके इसी पद्धति से बुद्धत्व प्राप्त किया था। ऐसा बौद्ध मतावलम्बियों का विश्वास है। बौद्ध धर्म के अनुयायियों के मन पर यह बात जमाने के लिए एक बोधिसत्व की कल्पना करके उसके जन्म-जन्मान्तर की कथाएँ गढ़ दी गई हैं। इन्ही कथाओं को जातक-कथाएँ कहा जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि महात्मा बुद्ध मानवता के बहुत बड़े ज्ञाता थे। उनका बताया हुआ मार्ग आज भी उतना ही सत्य है जितना उस समय था।

ईशु खिरस्त

: २ :
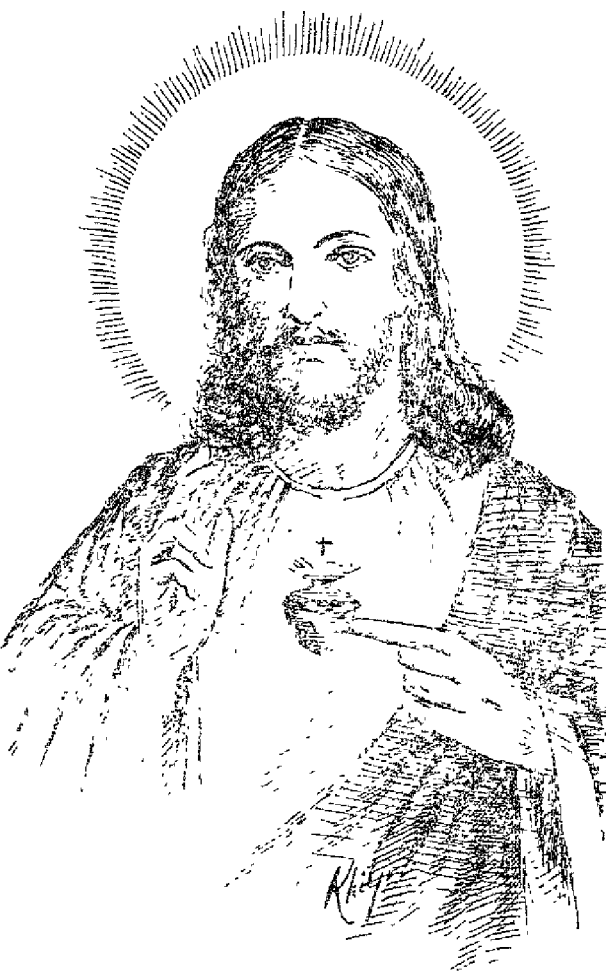
ईशु ख्रिस्त

"सन्तों व शास्त्रों का आदेश है कि आंख के बदले आंख और दांत के बदले दांत लेना चाहिए। लेकिन मैं तो कहता हूं कि तुम दुष्ट के साथ दुष्टता न करना। बल्कि जो तुम्हारे दायें गाल पर चपत जमाए उसके सामने तुम अपना बांया गाल भी कर देना। और अगर कोई तुमसे लड़ने आए और तुम्हारा कुरता लेना चाहे तो तुम उसे अपना अंगरखा भी दे देना।"

—ईशु ख्रिस्त

दुनिया के धार्मिक इतिहास में ईशु ख्रिस्त का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यूरोप ही नहीं दुनिया का अधिकांश भाग पिछले दो हजार वर्षों में उनके व्यक्तित्व और धर्म से काफी प्रभावित हुआ है। यद्यपि शंकराचार्य की भांति उन्हें भी बहुत कम आयु ही प्राप्त हुई तथापि उनकी शिक्षाओं ने इतनी गहरी जड़ें जमा ली कि वे धीरे-धीरे सारे यूरोप पर छा गईं। आज तो उनका प्रभाव सर्वत्र दिखाई दे रहा है।

एशिया के सुदूर पश्चिमी कोने में स्थित पेलेस्टाइन नामक प्रदेश ही ईशु ख्रिस्त का जन्म-स्थान है। उनके जन्म के समय वहाँ यहूदी लोग रहते थे। यहूदियों का धर्म मूसा आदि महापुरुषों की स्मृतियों के आधार पर रचा गया था। उनमें दो मुख्य धार्मिक सम्प्रदाय थे—एक फैरिसियों का दूसरा सैडयूसियों का। फैरिसी कर्मकाण्डी थे, सैडयूसी सुधारवादी। फैरिसी अपने पूजा-पाठ में व्यस्त रहते थे, सैडयूसी धनो-पार्जन में। फैरिसी सदाचार में तो विश्वास रखते थे किन्तु उनके पास विचार और पुरुषार्थ का बल नहीं था। उनमें अन्ध-श्रद्धा और

असहिष्णुता थी। इधर सैडचूसियों में विचार का बल तो था पर उनके ऊपर विदेशियों की मोहिनी पड़ी हुई थी। वे पूरी तरह यूनानी या रूमी बन जाने की धुन में थे।

लगभग दो हजार वर्ष पहिले जब पेलेस्टाइन में ईशु ख्रिस्त का जन्म हुआ, हेरोद नामक एक क्रूर और वहमी आदमी यहूदियों का राजा था। वह स्वयं यहूदी नहीं था किन्तु अन्तिम यहूदी राजा की पौत्री से विवाह करके राज्याधिकारी बन गया था। वह सत्ता-लोभी था और निरंकुश बनना चाहता था। इसके लिए वह रूमी सम्राट को भारी-भारी नजराने भेजकर तथा वसीले वाले यहूदियों को ऊँचे अधिकार देकर चुप किये हुए था। इधर यरुशेलम का प्राचीन मन्दिर फिर से बनवाकर उसने पुजारियों का भी मुँह बन्द कर दिया था। बस इतना सब करके मानो उसने प्रजा पर मनमाने अत्याचार करने की स्वतन्त्रता ही प्राप्त करली थी। इन्हीं परिस्थितियों के बीच ईशु ख्रिस्त का जन्म हुआ।

ईशु की माँ मारिया (मेरी) की सगाई योसेफ नामक एक बढ़ई युवक के साथ हुई थी। वह येरुशेलम के निकट बेथलेहम नामक गांव का निवासी था। मेरी का नेहर गैलिली तहसील के नेजरेथ गांव में था और योसेफ भी अपने धन्धे के सिलसिले में वहीं जा बसा था। मेरी और योसेफ के विधिवत विवाह के पूर्व ही ईशु का जन्म हो गया था। इसलिए लोग मेरी को 'कुमारी माता मेरी' कहते हैं। ईशु के जन्म के पहिले वे दोनों बेथलेहेम आगये थे। कहा जाता है कि वहीं एक सराय में २४-२५ दिसम्बर को आधी रात के समय ईशु का जन्म हुआ। जिस प्रकार भगवान श्रीकृष्ण के जन्म के समय एक भविष्यवाणी हुई थी और कंस ने उन्हें मरवा डालने के लिए कई प्रयत्न किये थे, उसी प्रकार राजा हेरोद को भी ज्योतिषियों ने कह दिया था कि उसका

शत्रु बेथलहम में उत्पन्न हो गया है । हैरोद ने क्रुद्ध होकर उस ग्राम के दो वर्ष से कम आयु के सभी बालकों को मार डालने की आज्ञा दे दी । किन्तु सौभाग्य से योसेफ को इस आज्ञा का पता चल गया और जब तक वह कार्यान्वित हो तब तक वह मेरी और ईशु के साथ नेजेरेथ भाग आया ।

ईशु के जीवन के प्रारम्भिक बारह वर्षों का कोई हाल नहीं मिलता । बारह वर्ष की आयु में वे अपने माता-पिता और छोटे भाई-बहिनों के साथ पेसाह् पर्व पर जेरुसेलम गये । योसेफ और मारिया पूजा-पाठ करके गांव वालों के साथ लौट आए । जब वह कुछ दूर आ गए तो उन्हें ईशु का ध्यान आया । वह उनके साथ नहीं था । उन्होंने सोचा वह किन्हीं दूसरे लोगों के साथ आ रहा होगा लेकिन जब सारा दिन बीत गया और शाम भी हो गई तो उन्हें चिन्ता हुई । वे वापिस जेरुसेलम पहुँचे और पूछताछ करने लगे । उन्होंने देखा कि ईशु मन्दिर में बैठा हुआ शास्त्रियों के साथ धर्म चर्चा कर रहा है और अपने कठिन प्रश्नों से शास्त्रियों को भी आश्चर्य में डाल रहा है । माता-पिता को उसका यह व्यवहार अच्छा नहीं लगा । मारिया ने उन्हें डाटा-फटकारा और उन्हें घर ले आई ।

इस घटना के बाद फिर १८ वर्षों तक का कोई हाल नहीं मिलता । कुछ लोगों का कहना है इन दिनों वे भारत आये थे और यहाँ अनेक धर्मों का अध्ययन किया था । ईसाई पादरी इस मान्यता का विरोध करते हैं । किन्तु उनके पास भी इस बात का कोई उत्तर नहीं है कि ईशु ने अपने जीवन के ये महत्वपूर्ण वर्ष कहाँ व्यतीत किए थे । प्रसिद्ध रूसी पर्यटक नोतोविच ने अपनी 'ईसा का अज्ञात जीवन-चरित्र' नामक पुस्तक में जो उन्होंने तिब्बत के मठों में प्राप्त विभिन्न लेखों के आधार पर लिखी है, उनके भारत आने और विभिन्न स्थानों में

रहने का विस्तृत वर्णन किया है। ईसाई और बौद्ध धर्मों में पाई जाने वाली अद्भुत समानता जिसे स्मिथ, विन्टरनीज, इलियट तथा अन्य विद्वानों ने स्वीकार किया है, इस बात का स्पष्ट संकेत करती है कि ईशु पर किसी-न-किसी प्रकार से बौद्ध धर्म का प्रभाव अवश्य पड़ा था। पंडित जवाहरलाल नेहरू ने भी अपनी 'विश्व इतिहास की झलक' नामक पुस्तक में यही बात कही है । कुछ भी हो, ईशु ने यह समय आध्यात्मिक चिन्तन में ही बिताया होगा।

३० वर्ष की आयु में उन्होंने योहान से दीक्षा ली । दीक्षा के तुरन्त बाद वे एक पहाड़ पर चले गये और वहाँ चालीस दिन तक उपवास पूर्वक प्रार्थना करते रहे। अनुमान है कि इस तपस्या के परिणाम-स्वरूप ही उन्हें धर्मतत्व का बोध हुआ और कुछ सिद्धियाँ भी प्राप्त हुई। उनमें आत्म विश्वास पैदा हुआ और ईश्वरनिष्ठा बढ़ी। अब उनमें इतना साहस आगया कि हानि-लाभ या सुख-दुःख की चिन्ता किए बिना जो भी सत्य प्रतीत हो उसे संसार के कल्याण के लिए कह दें। बाद में भी जब-जब दुनिया के विरोध बढ़ते और उनके परिणाम-स्वरूप मन दुर्बल होता हुआ दिखाई देता तब वे पहाड़, वन आदि किन्हीं एकान्त स्थानों में जाकर साधना करते और अपनी ईश्वरनिष्ठा को तेजस्वी बनाते थे। ऐसी मान्यता है कि उन्हें स्पर्श या वचन मात्र से रोग को निवारण कर देने की, भोजन पात्र को अक्षय बनाये रखने की, उपद्रवों को रोकने की, पानी पर चलने की तथा इसी प्रकार की अन्य सिद्धियाँ प्राप्त हो गई थीं।

कहा जाता है कि प्राथमिक साधना पूरी करने के बाद से ही उन्होंने धीमे-धीमे उपदेश देना प्रारंभ कर दिया था। प्रारंभ में वे पाप के लिए पश्चाताप करने, जीवन को पवित्र बनाने तथा प्रेमपूर्वक ईश्वर भक्ति करने का उपदेश देते थे। वे कहते थे कि शास्त्रों पर

जमी हुई जड़ श्रद्धा हानिकारक है। जब तक यह समाप्त नहीं होगी पाखण्ड का नाश नहीं होगा। इसी प्रकार जब तक क्षणिक लाभ के लिए दूसरों को हानि पहुँचाने की वृत्ति नष्ट नहीं होगी तब तक मनुष्य की उन्नति नहीं होगी। उपदेश के साथ-साथ वे अपने पास आने वाले अंधों की अंधता मिटा देते थे, बहिरों का बहिरापन। उनके स्पर्श से मरणोन्मुख जीवित हो जाता था, रोगी स्वस्थ। बस, फिर क्या था! उनकी कीर्ति दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ने लगी।

दीक्षा लेने के बाद जब पवित्र पेसाह पर्व आया तो वे भी रिवाज के अनुसार जेरुसलम गए। जेरुसलम में प्रतिवर्ष इस पर्व पर मन्दिर का एक भाग दूकानदारों को किराये पर दूकान लगाने के लिए दे दिया जाता था। ईशु को मन्दिर के एक भाग का बाजार बन जाना सहन नहीं हुआ। उन्होंने दूकानदारों को वहाँ से निकालना प्रारम्भ किया। लोगों ने पूछा—तुम किस अधिकार से ऐसा कर रहे हो तो उन्होंने कहा—"अगर तुम इस मन्दिर को तोड़ डालो तो मैं तीन दिन में नया मन्दिर बना सकता हूँ।" उनका आशय यह था कि मन्दिर ईश्वर के भक्तों का है। उन्हीं को उस पर पूरा अधिकार है। मन्दिर कोई ईंट चूने की इमारत नहीं होती, उसके अंदर सुरक्षित रखी जाने वाली पवित्रता ही मन्दिर होती है। इमारत के नष्ट हो जाने पर भक्त अपने हृदय के मसाले से तुरन्त दूसरा मन्दिर खड़ा कर सकता है। किंतु पुजारियों ने उनके शब्दों को मन्दिर के लिए तिरस्कार सूचक माना और आगे चलकर उन पर जो अभियोग लगाए उसमें इसे भी जोड़ लिया गया।

प्रारम्भ में ईशु ने केवल यहूदियों में ही प्रचार-कार्य करने का विचार किया था किन्तु बाद में उनकी दृष्टि विशाल बनती गई और वे गैर यहूदियों में भी उपदेश देने लगे। अब वे सभी जातियों के

लोगों को बिना किसी भेदभाव के दीक्षा देने लगे। वे यहूदियों के पुराने कर्म-काण्ड की उपेक्षा करने लगे। वे सबके साथ मिलने-जुलने लगे और सबके हाथ का खाना खाने लगे। इधर वे फैरिसियों को कडुवी और चुभने वाली बातें भी कहने लगे थे। परिणाम यह हुआ कि पुजारी, शास्त्री तथा कट्टरपंथी लोग उनसे अप्रसन्न रहने लगे। फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि उनके उपदेशों से दबे हुए यहूदियों में नवजीवन का संचार होने लगा और शासक वर्ग घबराने लगा।

राजा और पुजारियों का विरोध बढ़ता हुआ देखकर उन्होंने गेलिली जाने का निश्चय किया। गेलिली जाने के लिए सैमारिया तहसील में से गुजरना पड़ता था। यहूदी लोग इस स्थान को बड़ा अपवित्र मानते थे। बात यह थी कि यहाँ के लोग अपने गेरीजिम पर्वत को जेरुसेलम से भी अधिक पवित्र तीर्थस्थान मानते थे। यहूदियों को यह सहन नहीं होता था। ईशु अपने मन में इस प्रकार की घृणा को कैसे स्थान दे सकते थे? वे सैमरिया के रास्ते से ही गये और वहाँ के लोगों को भी उपदेश दिया।

सैमारिया में एक दिन वे कुएँ पर बैठे थे। उनके शिष्य गांव में खाना लाने के लिए गए। ईशु को प्यास लगी। इतने में एक स्त्री पानी भरने आई। उन्होंने उससे पानी मांगा। एक यहूदी को अपने हाथ का पानी पीने के लिए तैयार होता हुआ देखकर उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। उसे चकित देखकर वे बोले—"बाई, अगर तू मुझे पहिचान सके तो जो भौतिक जीवन (पानी) में तुझ से माँगता हूँ उसके बदले में तू मुझ से दिव्य जीवन माँग सकती है।" ईशु ने उसे उपदेश दिया और उनसे दीक्षा लेकर आगे वह पवित्रता पूर्वक जीवन बिताने लगी।

सैमारिया से ईशु गैलिली पहुँचे। वहाँ उन्होंने एक मन्दिर में

उपदेश दिया और लोगों से विनयपूर्वक कहा कि वे ईश्वर के राज्य का सन्देश सुनें। लेकिन लोगों को यह सहन नहीं हुआ कि उनके मुँह सामने का लड़का अपने को ईश्वर का पुत्र कहकर उपदेश दे। वे उन्हें मारने दौड़े और खदेड़कर गाँव के बाहर कर आये। अब वे केपरनाऊम चले गए।

केपरनाऊम में उनके विचारों का अच्छा प्रचार हुआ और पिटर, उसका भाई तथा दूसरे दो व्यक्ति उनके शिष्य बन गए। कुछ समय बाद फिर यहूदियों का एक पर्व आया। वे अपने शिष्यों के साथ जेरु-सेलम गये। वे प्रायः रोगियों को स्वस्थ बना देते थे और लोगों के कष्टों का निवारण कर दिया करते थे। अतः वे जहाँ जाते थे वहाँ एक जमघट इकट्ठा हो जाता था। यहाँ भी वही हुआ। जेरुसेलम में जब वे एक कुएँ के पास बैठे हुए थे तो एक ऐसा रोगी आया जिसे ३८ वर्ष पुराना लकवे का रोग था। उन्होंने उसे अपने वचन से ही अच्छा कर दिया और कहा कि जाओ अपनी चारपाई उठाकर घर लौट जाओ। यहूदी धर्म के अनुसार यह विश्रान्ति का दिन था। अतः यहूदियों को यह कहने का मौका मिल गया कि 'ईशु नास्तिक है। वह विश्रान्ति दिवस को नहीं मानता। उसने रोगी को निरोग बनाने का एक पाप तो किया है, उस पर उसे चारपाई उठाकर जाने को कहा—अर्थात् काम करने को कहा—यह तो पाप की हद हो गई।" इन पापों के लिए उनसे जवाब तलब किया गया। उन्होंने उत्तर दिया—"परमेश्वर प्रतिक्षण दया के काम करता रहता है, अतः दया के कार्यों के लिए ईश्वर के पुत्र पर विश्रान्ति दिन का कोई प्रतिबन्ध नहीं हो सकता।" अब उन पर एक और आरोप यह लगाया गया कि वे अपने को ईश्वर का पुत्र कहते हैं। वे इस बात को कैसे मान सकते थे कि कोई दो पैरों वाला हाड़-मांस का पुतला ईश्वर का पुत्र

हो सकता है। इसके अतिरिक्त जब कोई पापी व्यक्ति उनके सामने आता और पश्चात्ताप करता तो वे उसे यह कहकर आश्वस्त कर देते थे कि 'तेरे सब पाप माफ हो गए।' पुजारियों को उनके इस कथन पर भी आपत्ति थी। वे कहते थे कि ईश्वर के नाम पर पापों को क्षमा करने का ईशु को क्या अधिकार है?

इस प्रकार उनका विरोध बढ़ता जा रहा था किन्तु उनके अनुयायियों की संख्या भी बढ़ती जा रही थी। अब उनकी संख्या १२ हो गई। ये १२ शिष्य उनके १२ साधुओं की तरह थे। वक्तृत्व से प्रभावित होकर प्रतिदिन कितने ही लोग उनका उपदेश सुनने आते थे। किन्तु आने वाले लोगों में बड़ी संख्या उन्हीं लोगों की थी जो शारीरिक रोगों से मुक्त होना चाहते थे। आत्म शुद्धि के लिए आने वाले तो बहुत कम होते थे। उन्हें यह बात हमेशा चुभती रहती थी। उन्हें फैरसियों और शास्त्रियों से शिकायत थी कि वे लोगों को जड़ और अन्ध श्रद्धालु बना रहे हैं। अतः उनकी वाणी में कभी-कभी कड़ुआहट भी आ जाती थी किन्तु वे दृष्टान्त और कहानियाँ सुनाकर जो उपदेश देते थे वे बड़े मूल्यवान होते थे।

एक बार एक फैरिसी के निमन्त्रण पर वे उसके घर भोजन करने गए। जब वे भोजन कर रहे थे तो एक हलका धन्धा करने वाली स्त्री आई और अपने आँसुओं से उनके चरण धोने लगी। चरण धोकर उन्हें बालों से पोंछा और फिर सुगन्धित द्रव्य का लेप किया। यह सब देखकर यजमान फैरिसी के मन में शंका उत्पन्न हुई। उसने सोचा कि यदि ईशु सच्चा पैगम्बर होता तो इसे पता चल गया होता कि इस स्त्री का चालचलन बुरा है और इसे अपने पैर छूने न देता। ईशु ने उसके मन की बात जान ली। उन्होंने कहा—"सायमन, मान लो कि एक आदमी के दो कर्जदार हैं। एक से उसे पांच सौ लेने हैं दूसरे से

पचास । अगर अशक्त जानकर वह दोनों को माफ कर दे तो उनमें कौन उसका अधिक कृतज्ञ होगा ।" साइमन ने कहा—"पांच सौ वाला ।"

ईशु ने कहा—"सच है । अब तुम इस स्त्री का विचार करो । मैं तुम्हारे घर भोजन करने आया हूँ लेकिन तुमने मुझे पैर धोने को पानी तक नहीं दिया । इधर इस स्त्री ने मेरे पैर अपने आँसुओं से धोये और अपने बालों से पोंछे । तुमने मुझे प्रणाम नहीं किया लेकिन यह स्त्री जब से आई है मेरे पैरों को ही पकड़े बैठी है । तुमने तो मेरे भाल पर भी सुगन्ध का लेप नहीं किया जब कि इस स्त्री ने मेरे पैर को सुगन्ध से चर्चित किया है । इसीलिए तो मैं कहता हूँ कि अधिक होते हुए भी इसके सब पाप धुल गए हैं । इसका प्रेम अधिक है । जिसके पाप कम धुले हैं उसका प्रेम भी कम है ।" इसके बाद ईशु ने उस स्त्री से कहा—"जाओ बहिन तुम्हारे सब पाप माफ हो गये हैं ।"

एक बार कुछ पुजारी और शास्त्री एक स्त्री को ईशु के पास ले आये । यह स्त्री व्यभिचार करती हुई पकड़ी गई थी । उन्होंने कहा—"मूसा के नियम के अनुसार इस स्त्री को पत्थरों से मारने की सजा देनी चाहिए । इस सम्बन्ध में आपकी क्या आज्ञा है ?" इस प्रश्न के द्वारा वे किसी तरह ईशु को उसके शब्दों में ही बांध लेना चाहते थे । ईशु चुप रहे । लेकिन जब उन लोगों ने बार-बार आग्रह करना शुरू किया तो वे बोले—"आप लोगों में से जो नितान्त निष्पाप हो वह इसे पहिला पत्थर मारे ।" यह उत्तर सुनकर लोग एक-एक कर उठे और अपने घर चल दिये । केवल वह स्त्री ही वहाँ रह गई । ईशु ने उस स्त्री से कहा—"तुझ पर दोष लगाने वाले कहाँ गये ? क्या उन्होंने तुझे कोई सजा नहीं दी ?" स्त्री बोली—"नहीं प्रभु ।" ईशु ने कहा—"तो अब तू अपने घर जा और आगे कभी पाप न करना ।"

ईशु इस प्रकार बड़ा महत्वपूर्ण कार्य कर रहे थे किन्तु यहूदी पंडित और पुजारी उन्हें नास्तिक ही मानते थे । उनका कहना था कि——यह पापों को नाश करने वाला कौन होता है ? इसने कोई मलिन विद्या सिद्ध करली है और उसी के द्वारा कुछ चमत्कार दिखाया करता है । वे कहने लगे कि ईशु को कोई अग्नि परीक्षा देकर यह सिद्ध करना चाहिए कि वह ख्रिस्त है । उनके इन शब्दों से ईशु को अपने भविष्य का भान होता जा रहा था । वे कभी-कभी अस्पष्ट शब्दों में कह भी देते थे कि मुझे मृत्यु द्वारा ही अपनी परीक्षा देनी होगी ।

एक बार वे फिर सुक्कोथ पर्व के अवसर पर जेरुसेलम गये और लोगों को उपदेश देने लगे। किन्तु अधिकांश लोग उनके उपदेशों को ठीक तरह समझ ही नहीं पाते थे । ईशु आत्मनिष्ठ थे और आत्म शब्द का उच्चार किये बिना अपना परिचय अजर-अमर-सनातन के रूप में दिया करते थे । किन्तु सुनने वाले तो उन्हें साढ़े तीन हाथ के पुतले के ही रूप में देखते थे और उसी को ईशु समझते थे । इसलिए जब वे कहते——"तुम मुझे ढूंढ़ नहीं सकोगे, जहाँ मैं रहता हूँ वहाँ पहुँच नहीं सकोगे ।" तो लोग उनकी बातों को स्थूल रूप में ही समझते थे । जब वे कहते——"मैं यहूदियों के पूर्वजों से भी पहिले का हूँ ।" तो फैरिसी उन्हें पागल, झूठा, पूर्वजों का अपमान करने वाला और नास्तिक समझते थे । इसी प्रकार जब वे अपने को ईश्वर का पुत्र कहते तो वे इसे उनकी आत्म प्रशंसा समझते । परिणाम यह होता था कि कभी-कभी धर्मान्ध लोग उन पर बुरी तरह क्रुद्ध हो जाते थे और उन्हें मार डालने के लिए कटिबद्ध हो जाते थे ।

उपदेश करते-करते अब उन्हें तीन ही वर्ष बीते थे। वे इस समय ३३ वर्ष के होंगे । इस समय जब पेसाह पर्व आया तो वे फिर जेरुसेलम

गये । यह उनकी अन्तिम यात्रा थी । पर्व के छः दिन पूर्व वे अपने बारह शिष्यों के साथ जेरुसेलम के पास बेथनी नामक गांव में आ पहुँचे और एक ऐसे आदमी के घर ठहरे जो पहिले उनके हाथों नीरोग हो चुका था । पेसाह पर्व शुक्रवार की शाम को शुरू होता था । ईशु ने गुरुवार के दिन से ही मन्दिर में जाकर उपदेश देना प्रारम्भ कर दिया । पर्व प्रारम्भ होने पर उन्होंने मन्दिर के अन्दर लगने वाले बाजार को खाली करने का हुक्म दिया । उन्हें पाप सहन नहीं हो पाता था । अतः उनकी वाणी में सद्बुद्धि और सदुद्देश्य के होते हुए भी कटुता आ ही जाती थी ।

उन्हीं दिनों एक रात बेथनी में ईशु अपने मेजबान के घर बैठे हुए थे कि स्त्री ने आकर उनके मस्तक पर सुगन्धित इत्र चढ़ाया और भक्तिभाव के साथ पूजा की । पूजा के साथ उनका जय-जयकार किया गया । दूसरे दिन जब लोगों को पता चला कि वे आरहे हैं तो बहुतेरे लोग गाजे-बाजे के साथ उनकी अगवानी करने गए। कोई मंगल सूचक ध्वनि कर रहे थे और कोई ताड़ के पत्तों की ध्वजाएँ फहरा रहे थे। वे सब 'यहूदियों के राजा की जय' के नारे भी लगा रहे थे ।

ईशु का यह मान-सम्मान येहूदा से न देखा गया । उसने इस मान-सम्मान को राज्याभिषेक जैसा ही मान लिया । वह पुजारियों और शास्त्रियों के पास गया तथा उनसे मिलकर हत्या का षड्यन्त्र रचने लगा । उन लोगों ने सोचा कि पर्व प्रारम्भ हो जाने पर तो उसकी समाप्ति तक मनुष्य हिंसा नहीं हो सकेगी। अतः उसके पहिले ही ईशु को मरवा देना चाहिए। ईशु रात का समय बेथनी में या आसपास के पहाड़ों में ईश्वर चिन्तन करते हुए बिताते थे । अतः उन्हें पकड़ लेना कोई कठिन कार्य नहीं था ।

गुरुवार की शाम को वे अपने शिष्यों के साथ जेरुसेलम में ही एक

भक्त के घर भोजन करने गये । खाते-खाते उन्होंने अपने मन का संशय प्रकट किया कि येहूदा कोई षड्यन्त्र रच रहा है अतः सब लोगों को होशियार और वफादार रहना चाहिए । जब उन्होंने शिष्यों की अटलता पर कुछ अविश्वास प्रकट किया तो उनका यह शिष्य पिटर बोल उठा—"सब भले ही दगा दे जायँ लेकिन मैं तो दगा नहीं दूंगा ।" ईशु को भरोसा नहीं हुआ । वे बोले—"मुर्गे के बांग देने से पहिले तू तीन बार मेरा साथी होने से इन्कार करेगा ।"

उस रात वे नगर के बाहर ऑलिव की टेकरी पर प्रार्थना करने गये । उनके साथ सारे शिष्यगण थे । उन्होंने शिष्यों से कहा—"मुझे अब कुछ भी अच्छा नहीं लगता । जीवन इतना नीरस प्रतीत होता है कि शायद प्राण निकल जाय इसलिए जब मैं प्रार्थना करूँ तब मुझे सँभालना ।" इतना कहकर वे प्रार्थना करने चले गए । कुछ देर प्रार्थना करने के बाद लौटे तो देखा कि सारे शिष्य सो गये हैं । उन्होंने उन लोगों को जगाया और रात भर प्रार्थना करते रहने के लिए कहा । वे फिर प्रार्थना करने के लिए चले गये और शिष्य लोग फिर सो गये । कुछ समय बाद वे लौटे और फिर उन्हें जगाया किन्तु वे लोग फिर सो गये । तीन बार ऐसा ही हुआ । तीसरी बार शिष्यों को सोते हुए देखकर उन्होंने कहा—"तुम्हारी नींद शान्तिमय हो । तुम्हारा साथी अब खतरे में पड़ता है ।"

इतने में ही यहूदा हथियारों से लैस होकर एक टोली के साथ वहाँ आ गया उसने अपनी टोली के सरदार से कहा—"मैं जिसका हाथ चूमूं तुम उसी को पकड़ लेना ।" वह आगे बढ़ा और ईशु के पास आकर उनका हाथ चूमा । ईशु ने कहा—"भाई तुम अपना काम कर लो ।" टोली के सरदार ने ईशु को बाँध लिया । इसी समय पीटर जगा । वह तलवार खींच कर टोली पर झपटा । इस झपट में एक व्यक्ति

का कान कट गया। ईशु ने उससे कहा—"भाई, अपनी तलवार म्यान में रख ले। क्योंकि जो तलवार उठाएगा वह तलवार से ही मरेगा। मैं अपनी रक्षा के लिए बारह लाख फरिश्तों को बुला सकता हूँ लेकिन मैं इस तरह बचना नहीं चाहता। मेरी मृत्यु ही मेरी सेवा है।" फिर टोली के लोगों को सम्बोधित करते हुए बोले—"भाई, इतनी तैयारी क्यों की? आप तो मुझे मन्दिर में ही पकड़ सकते थे। मैं कोई डाकुओं का सरदार तो हूँ नहीं।" इधर यह दृश्य देखते ही उनके सारे शिष्य भाग गये।

उन्हें जेरुसेलम के सबसे बड़े पुजारी के घर ले जाया गया और उनपर मुकदमा चलाने का स्वांग रचा गया। मुकदमे की कार्रवाही शुरू हुई। बड़ी देर में उनके विरुद्ध गवाही देने के लिए दो व्यक्ति लाये गये। उन्होंने कहा—"ईशु कहता था कि वह प्रभु का मन्दिर तोड़ कर दूसरा मन्दिर तीन दिन में बना सकता है।" इस पर बड़े पुजारी ने ईशु से पूछा—"क्यों यह सच है?" ईशु ने कोई उत्तर न दिया। महा-पुजारी ने कहा—"मैं तुझे ईश्वर की शपथ देकर मेरे प्रश्न का उत्तर देने के लिए कहता हूँ। बोल क्या तू ईश्वर का अभिषिक्त पुत्र है?" ईशु ने कहा—"आपके शब्द सच्चे हैं। अब से आप मुझे प्रभु की दाईं ओर बैठा हुआ देखोगे।" यह सुनते ही बड़ा पुजारी चिल्लाया—"झूठा, निन्दक कहीं का। बस, अब ज्यादा गवाही की जरूरत नहीं है।"

फिर तो सारी सभा ने फटकार की झड़ी लगा दी। सब ईशु के ऊपर टूट पड़े। किसी ने उनके मुँह पर थूका, किसी ने तमाचे मारे। सभी चिल्लाने लगे—"इसे मार डालो।"

इधर जब ईशु पर अत्याचार हो रहा था तब पिटर को छोड़कर उनका एक भी शिष्य वहाँ उपस्थित नहीं था। पिटर एक तटस्थ दर्शक

की तरह अधिकारियों के पास बैठा-बैठा सिगड़ी ताप रहा था। जब मुकदमा होगया और ईशु पर मार पड़ने लगी तो वह चुपचाप बैठा रहा। बड़े पुजारी की एक नौकरानी ने उसे अंगीठी तापते देखकर कहा—"यह तो ईशु का साथी है।" पिटर ने कहा—"क्यों झूठ बोलती हो मैं तो उसे पहिचानता ही नहीं।" कुछ देर बाद वह बाहर निकला। अब एक दूसरी दासी ने वही बात दुहराई और पिटर ने वही जवाब दिया। आगे बढ़ने पर जब तीसरी दासी ने वही आक्षेप किया तो वह बोला—"मैं उस आदमी को जरा भी नहीं जानता।" इसी समय जैसा कि ईशु ने पहिले कहा था मुर्गा बोला। अब पिटर को चेत हुआ। वह मुँह छिपाकर भाग गया और अपनी करनी पर पश्चाताप करने लगा।

बड़े पुजारी की इस अदालत को मृत्युदण्ड देने का अधिकार नहीं था। फिर पेसाह पर्व के दिनों नर हिंसा करना भी तो ठीक नहीं था। अतः यह तय हुआ कि रोमन सूबे के मार्फत ही ईशु को मृत्युदण्ड दिलवाया जाय। उन्हें सूबे के पास भेज दिया गया। रास्ते भर उनके साथ दुर्व्यवहार होता रहा। जब वहाँ पहुँचे तो मुकदमा चला। बड़े पुजारी तथा अन्य पुजारियों ने उनके खिलाफ गवाही दी। गवाही समाप्त हो जाने पर ईशु को सफाई देने के लिए कहा गया किन्तु उन्होंने एक भी शब्द नहीं कहा। सूबे ने उनसे पूछा—"क्या यह सच है कि तुम अपने को यहूदियों का राजा कहते हो?" ईशु ने कहा—"यह अभियोग आप अपनी ओर से लगा रहे हैं या दूसरों के कहने से?" सूबा ने कहा—"मुझे क्या पता? यह सब तो तुम्हारी जात वाले ही कह रहे हैं और वे ही तुम्हें मेरे पास लाए हैं।" इस पर ईशु ने कहा—"मैं जिस राज्य की बात करता हूँ वह पृथ्वी का भौतिक राज्य नहीं बल्कि प्रभु का आध्यात्मिक राज्य है। मैं सत्य का साथी हूँ। सत्य के लिए मेरा जन्म हुआ है और सत्य धर्म का मैं राजा हूँ।"

ईशु का जवाब सुनकर सूबा सारी बात समझ गया। उसने कहा—"मुझे तो ईशु में कोई दोष दिखाई नहीं देता। फिर भी यदि उसके हाथों कोई धर्म भंग हुआ हो तो इस पेसाह पर्व पर क्षमा कर देना चाहिए। अब तो सबकुछ उलटा हो गया। यहूदी इसे कैसे सहन करते? वे एक साथ चिल्ला उठे—"इसे नहीं, इसे नहीं।" बेचारा सूबा परेशानी में पड़ गया। थोड़ा विचार कर उसने एक युक्ति ढूंढ़ निकाली। उसने कहा—"ईशु गैलिली का निवासी है। गैलिली का राजा हेरोद है अतः यह मुकदमा उसी की अदालत में चलना चाहिए। बस, ईशु को हेरोद के पास भेज दिया गया।

राजा हेरोद इन दिनों जेरुसेलम में ही था। जब ईशु को उसके सामने लाया गया तो उसने उनसे कुछ चमत्कार दिखाने को कहा। उसने पहिले से ही ईशु के बारे में बहुत कुछ सुन रखा था। किन्तु ईशु ने चमत्कार दिखाने से इन्कार कर दिया। हेरोद विचार में पड़ा। उसने सोचा ईशु ने मेरा कोई अपराध तो किया नहीं है अतः मैं उसे मृत्यु-दण्ड कैसे दूं? ईशु का उपहास करने के लिए उसने उनके शरीर पर एक पुरानी शाही पोशाक पहिना दी और उन्हें वापिस सूबा के पास भेज दिया। सूबा फिर कठिनाई से फंसा। उसने यहूदियों से विनती की कि वे अपना हठ छोड़ दें। उन्हें खुश करने के लिए उसने ईशु को कोड़ों से पिटवाया। कांटों का एक मुकुट बनवाकर उसे उनके सिर पर रखा। उन्हें लोगों के सामने खड़ा करके 'यहूदियों के राजा की जय' के नारे लगवाये और उनके साथ-साथ तमाचे व घूंसे लगवाये। उसने सोचा था कि इतना करने से यहूदियों का गुस्सा शान्त हो जायगा और ईशु को छोड़ देने में कठिनाई न आएगी। किन्तु पुजारी लोग तो मृत्यु दण्ड से कम पर तैयार ही नहीं हो रहे थे। वे लगातार चिल्लाने लगे—"इसे सूली पर चढ़ा दो, इसे सूली पर चढ़ा दो!" बेचारा सूबा

घबराया। बादशाह वैसे ही उससे नाराज था अतः वह मन में डरा कि यदि पुजारियों की अदालत के फैसले के विरुद्ध मैं ईशु को छोड़ देता हूँ तो पुजारी लोग मेरी शिकायत करेंगे। उनका वसीला भी है अत. बादशाह नाराज हुए बिना न रहेगा। उसने लोगों को एक बार फिर समझाया लेकिन जब वे नहीं ही माने तो उसने ईशु को जल्लादों के हाथों सौंप दिया।

लकड़ी का एक बड़ा क्रूस उठाकर ईशु जल्लादों के साथ वध्यभूमि की ओर चले। उनके पीछे लोगों की एक बहुत बड़ी भीड़ थी जो उन्हें गालियाँ दे रही थी, उन पर थूक रही थी और अनेक तरह से उनका अपमान कर रही थी। उनके दोनों हाथों और दोनों पैरों में बड़े-बड़े कीलें ठोककर क्रूस खड़ा कर दिया गया। उस दिन दो चोरों को भी यही दण्ड मिला था। उन दोनों के क्रूस ईशु के क्रूस के दोनों ओर खड़े किये गये। अन्तिम समय में केवल उनकी मां, मौसी तथा दो अन्य स्त्रियाँ ही उनके आत्मीय के रूप में वहाँ उपस्थित थी।

कीलों के ठोकेजाने से ईशु को बड़ी तीव्र वेदना हो रही थी। उन्होंने उसे शान्त भाव से सहन किया। किन्तु जब वह असह्य प्रतीत होने लगी तो उन्होंने जोर से पुकारा—"मेरे प्रभु तूने मुझे क्यों छोड़ दिया?" उनका गला सूखा जा रहा था। स्त्रियों ने ऊपर चढ़कर उनके गले में द्राक्षा रस छोड़ा। इसके बाद एक बार फिर उन्होंने पुकारा—"प्रभु मैं अपनी आत्मा तुझे सौंपता हूँ।" बस, इतना, कहकर उन्होंने अपने प्राण छोड़ दिये।

उनके इस बलिदान का जबरदस्त प्रभाव पड़ा। यद्यपि जीते जी उनके शिष्य निस्तेज और डरपोक बने रहे तथापि मृत्यु के बाद उनमें आत्म तेज जाग्रत हुए बिना न रहा। महात्मा ईशु ने अपने पवित्र बलि-दान से नवयुग का एक ऐसा नवीन बीज बो दिया जो पल्लवित और

पुष्पित हुए बिना न रहा । उनकी मृत्यु के बाद तो बहुत से यहूदी ईसाई हो गये और उन्होंने अपने जीवन को उत्सर्ग करके उस पौधे को सींचा । यद्यपि दुर्भाग्य से ईशु जीवन काल में अपने धर्म का प्रसार न देख सके तथापि प्रेम, दया, अहिंसा और पवित्रता का जो सन्देश वे दे गये वह अजर-अमर सिद्ध हुआ । वह युगों तक दुनिया को नया जीवन देता रहेगा ।

कोलम्बस

: ३ :

क्रिस्टोफर कोलम्बस

"मेरा उद्देश्य है एशिया महाद्वीप के लिए छोटे-से-छोटे मार्ग की खोज करना और वहाँ के निवासियों को सच्चे धर्म के ज्ञान से अवगत कराना। मेरा विश्वास है कि ईश्वर ने इस मिशन की पूर्ति के लिए मेरा आह्वान किया है और संभवतः बचपन से ही दूर देशों के प्रति मेरे मन में उसने प्रेम पैदा किया है। उसी ने मुझे सितारों और सागरों के भेद बताये हैं। उसकी कृपा से मुझे गणित का ज्ञान और मानचित्रों के निर्माण करने की दक्षता प्राप्त हुई है। अपनी अन्तिम सांस तक मैं उसके आदेश का पालन करूँगा।"

—कोलम्बस

पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य की बात है। दो बालक इटली के जिनोआ नगर में समुद्र के किनारे एक बारीक से रेतीले खण्ड पर खेल रहे थे। अचानक उन्हें अपना चचेरा भाई टोनियो मिल गया। वह टोनियो जो किसी समय बुद्धू था—आज एक लम्बतड़ंग गोलमटोल आदमी के रूप में उनके सामने खड़ा था। छोटा बालक उसे देखते ही पीछे ठिठक गया। वस्तुतः वह उसे पसन्द ही नहीं आता था। बड़े बालक ने पूछा—"बताओ तो भाई, तुम इतने महीनों तक कहाँ रहे?" टोनियो ने गर्व भरे स्वर में कहा—"मैंने बारबरी के शानदार रेतीले सागर तटों पर अपना समय गुजारा है। मैंने हर्क्यूलीज के स्तंभ देखे हैं और पुर्तगालियों ने जिन नये द्वीपों की खोज की है वहाँ भी हो आया हूँ!"

"अच्छा! तुम्हारा मतलब उन सौभाग्य शाली द्वीपों से है?" छोटे बालक ने अपना स्वर ऊँचा करते हुए कहा।

"जी, मैंने तो जाना था कि आप किताबों में ही आँखें गड़ाये रहते हैं और वह दिन दूर नहीं जब साधु हो जाएँगे। क्या तुमने किताबों में नहीं पढ़ा कि यूनान के आगे एन्टीओक पर सागर समाप्त हो जाता है ?"

"मुझे इस पर विश्वास नहीं है। यह तो मछियारों की बनाई हुई कहानी है।"

"ओहो, तो आप मल्लाहों से भी ज्यादा जानते हैं ?"

"इसमें क्या शक है। हमने वीवर्स स्कूल में मार्कोपोलो की प्रसिद्ध पुस्तक पढ़ी थी। उसमें लिखा था—"

"हाँ, हाँ, जानता हूँ उसे ? वह तो झूठों का सरदार था।"

"वह झूठा नहीं हो सकता। उसने वही लिखा है जो अपनी आँखो देखा था। फादर ग्योवान्नी भी ऐसा ही मानते हैं। मार्कोपोलो अनेक वर्षों तक ग्रेण्डखान का वायसराय रह चुका था। वह उन हाथियों पर सवार हुआ था जिसके दांत सोने से मंढ़े हुए थे और जिनके पैरों मे चांदी के घुंघरुओं से युक्त पायजेब होते थे। उसने बहुत दूर सियागो द्वीप तक यात्रा की थी। उसने लिखा था कि उस देश के मकानों की छतें मुझे सोने से मंढ़ी मिली थीं और उनमें बेशकीमती रत्न जड़े हुए थे। एक-न-एक दिन मैं भी वहाँ पहुँचकर रहूँगा।"

"क्या खूब ! जितना छोटा मुर्गा उतनी ही ऊँची बांग ! आपकी योजनाएँ तो बहुत बड़ी-बड़ी हैं !" टोनियो ने उपहास के स्वर मे कहा।

"इसमें क्या शक ? एक दिन मेरा अपना जहाज होगा और मैं बारबरी के तट से होता हुआ पश्चिम दिशा की ओर जाऊँगा…"

"पश्चिम की ओर ? तब तो तुम निरे गधे हो ! आजतक एक भी मल्लाह ने साहस किया है उधर जाने का ? उस समुद्र में पर्वतों जैसी

लहरें उठती हैं और वहाँ इतने विशाल दानव रहते हैं कि एक ही बार मे सारे जहाज को निगल जाते हैं।"

"अच्छा! अगर किसी आदमी को ये दानव मिले हैं तो उनकी सूचना देने के लिए वह वापिस कैसे आगया?" जवाब इतना करारा था कि टोनियो का चेहरा मलिन हो गया। उसने कभी सोचा ही न था कि यह छोटा-सा लड़का इतना तीव्र बुद्धि होगा। आप समझ गये होंगे कि यह बालक कोलम्बस के अतिरिक्त और कोई नहीं था। उसका जन्म इस जिनोआ नगर में ही स्थित वीको-ड्डीडोडी पौण्टीसिलो मे हुआ था। उसका सारा बाल्यकाल गरीबी में बीता। साधारण-सी शिक्षा प्राप्त करके उसने मल्लाह का जीवन पसन्द किया। उसने थोड़े ही समय मे अनेक बार भूमध्य सागर को पार किया और उसके सारे तटों की यात्रा पूरी करली। वह इंगलिश द्वीपों, पुर्तगाली अजौरो, आयसलैण्ड एवं कनारीज के स्पेनिश आर्चीपैलेगो आदि स्थानों पर भी हो आया।

बाल्यावस्था में उसने मार्कोपोलो की जो पुस्तक पढ़ी थी उसने अज्ञात प्रदेशों की यात्रा कर वहाँ से अपार संपत्ति लाने और वहाँ के निवासियों को प्रभु ईशु का सन्देश सुनाने की एक ऐसी महत्वाकांक्षा भर दी थी जो उसे निरन्तर प्रेरणा देती रहती थी। धीरे-धीरे वह इस परिणाम पर पहुँचा कि राज्याश्रय के बिना वह कार्य नहीं हो सकेगा। अतः राज्याश्रय प्राप्त करने की दृष्टि से उसने एक योजना तैयार की और विभिन्न स्थानों और समुद्री मार्गों के अनेक नक्शे तैयार किये। पुर्तगाल सरकार इस प्रकार के कामों में दिलचस्पी ले रही थी, इसलिए उससे सहायता प्राप्त करने के लिए वह वहाँ गया। वहाँ राजा के पास पहुंचने और अपनी योजना उन्हें समझाने में काफी समय बीत गया। किन्तु लगभग १४ वर्ष का समय व्यतीत कर देने के बाद भी अविश्वास

और धोखे के अतिरिक्त उसे कुछ नहीं मिल सका। पुर्तगाल वालों ने उसको गणित तालिकाएँ और नक्शे दिखाने को कहा। उन्होंने बहाना बनाया कि उन्हें देखकर ही वे निर्णय कर सकेंगे कि यात्रा उपयोगी होगी या नहीं। किन्तु जब कोलम्बस ने उन्हें उनके सुपुर्द कर दिया तो वे फिर नहीं लौटाये गए। इतना ही नहीं उन्होंने उनके आधार पर चुपचाप अपने जहाज भेज दिये और शेखचिल्ली, धूर्त, सिरफिरा आदि कहकर उसका उपहास किया। उसे सम्राट जॉन महान से बड़ी आशा थी किन्तु उसकी योजना सुनकर जब वह भी जोर से अट्टहास कर उठा तो उसे बड़ी निराशा हुई थी। उसने कहा था—"बुद्धिमान कोलम्बस, हमारा विचार है कि इस पृथ्वी के दूसरी ओर स्थित भूखण्ड पर जिसकी तुम चर्चा कर रहे हो, शायद आदमी शीर्षासन करके चलते हों और वृक्षों की शाखाएँ ऊपर जाने के बजाय जमीन की ओर बढ़ती हैं और वर्षा, तुषार व ओले भी पृथ्वी से आसमान की ओर गिरते हों। ठीक है न ?" सारी सभा अट्टहास से गूँज उठी और बेचारा कोलम्बस अपनी आशाओं पर तुषारपात होता हुआ देखकर भारी मन से लौट आया।

किन्तु निराश होकर बैठ जाना तो कोलम्बस ने सीखा ही नहीं था। उसने फ्रान्स जाकर नया प्रयत्न करने का निश्चय किया और अपने पुत्र डीगो के साथ एक जहाज में सवार होकर रवाना हो गया। मार्ग में स्पेन पड़ता था। एक दिन विश्राम करने के लिए वह यहाँ ठहर गया। किन्तु जब यहाँ कुछ लोगों से बात हुई तो आशा की किरण दिखाई देने लगी। लोगों ने कहा कि उसे सम्राट से मिलना चाहिए और उनको अपनी सारी योजना बताना चाहिए। कोलम्बस तैयार हो गया। यह सन् १४९१ की बात है।

स्पेन में सौभाग्य से कोलम्बस की भेंट फादर पिरेंज से हुई।

फादर पिरेज यद्यपि एक धार्मिक व्यक्ति थे तथापि राजदरबार में भी उनका बड़ा मान-सम्मान था। वे कोलम्बस की बातचीत से बड़े प्रभावित हुए और उन्होंने स्वयं वहाँ जाकर कोलम्बस की योजना की चर्चा की। सम्राज्ञी इजाबेला ने योजना को पसन्द किया और १८ विद्वानों की एक समिति नियुक्त कर उसे अधिकार दिया कि कोलम्बस की योजना पूरी तरह विचार कर अपनी रिपोर्ट पेश करे। कोलम्बस को इस समाचार से हार्दिक प्रसन्नता हुई। वह खुशी-खुशी समिति के सामने गया और उसे अपनी सारी योजना समझाई। उसने समिति के विद्वानों के सामने भाषण देते हुए कहा—

"विद्वान पुरुषों, मैं अपनी अयोग्यता से परिचित हूं। मैं एक साधारण आदमी हूं। न मेरे पास राजकीय सत्ता के चिह्न हैं और न मेरे पूर्वज महान थे। मैं यहाँ एक विद्वान या सामन्त की हैसियत से नहीं आया हूं। मैं एक सामुद्रिक हूं और उसी हैसियत से उपस्थित हुआ हूँ। सामुद्रिक की हैसियत से एक लम्बी अवधि तक विचार करने का सौभाग्य मुझे मिला है। इन विचार के क्षणों में इस दुनिया के बारे में मैंने अधिक-से-अधिक जानकारी प्राप्त करने की चेष्टा की है। भूत और वर्तमानकाल के विचारकों के मानचित्रों एवं गणित-तालिकाओं से भी मैंने यह जानकारी प्राप्त की है। इन तालिकाओं में मेरे अपने भी वक्तव्य अंकित हैं।

पृथ्वी की गोलाई के बारे में अधिकांश विद्वानों में मतभेद है। परन्तु यदि हम परिभाषा को स्वीकार करलें तो जिस प्रकार रात्रि के बाद दिन का उदय होता है उसी प्रकार इस सिद्धान्त के अनुसार इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि यदि पश्चिम की दिशा में समुद्र यात्रा की जाय तो पूर्व देश में स्थित कैथे और सिपागो में पहुँचा जा सकता है। इस बात का साक्ष्य सागर की लहरों के साथ बहकर

आने वाले लकड़ी के बड़े-बड़े लट्ठों और नक्काशी की हुई काष्ठ-सामग्री से प्राप्त हो सकता है, जोकि अजोर्स से प्राप्त हो सकती है। लिस्बन में यह सभी चीजें प्रदर्शित की जा रही हैं। मैंने अपनी आँखो से उन्हें देखा है।"

कोलम्बस ने आगे बताया कि क्षितिज पर सबसे पहिले जहाज के मस्तूल दिखाई देते हैं जो इस बात के साक्षी हैं कि पृथ्वी गोल है। पृथ्वी की गोलाई सिद्ध करके उसने अन्त में कहा—"मैंने अपनी योजनाएँ पुर्तगाल सरकार को भी बताई थी किन्तु उन्होंने उसे स्वीकार नहीं किया। उससे मुझे बड़ी निराशा हुई किन्तु अब मैं उस निराशा में भी भगवान की ही इच्छा देख रहा हूँ। शायद प्रभु की यही इच्छा थी कि फर्डीनेण्ड और इजाबेला को ही इस महान अवसर का सदुपयोग करने का गौरव प्राप्त हो। आपने मेरे मानचित्रों और गणित तालिकाओं का अध्ययन किया है। परन्तु आप यह स्मरण रखें कि मैं उसी सत्ता का एक क्षुद्र साधन हूँ जो हम सबका मार्गदर्शन करती है। मैं इस मानचित्र में अंकित उद्देश्य का उसी के इंगित पर अनुसरण करना चाहता हूँ। मैं केवल कुतुबनुमा को ही अपना मार्गदर्शक नहीं मानता, वरन् प्रभु के प्रति आस्था से प्राप्त स्पष्ट प्रकाश ही मेरा मार्गदर्शन करता है।"

उसके इस वक्तव्य का समिति पर अच्छा प्रभाव पड़ा। कुछ लोग तो उसकी योजना से बड़े प्रभावित हुए किन्तु कुछ लोगों ने उसका विरोध भी किया। परिणाम यह हुआ कि वह अस्वीकृत हो गई। कोलम्बस को बड़ी निराशा हुई किन्तु उसके भाषण ने जिन लोगों को प्रभावित किया था उनका सहारा उसे अपने आप मिल गया। उन्होंने उसे बड़ा आश्वासन दिया और कहाकि स्पेन की सरकार इस समय मूर लोगों के साथ लड़ाई में व्यस्त है लड़ाई समाप्त होते ही

उसकी भेंट साम्राज्ञी से हो जायगी और साम्राज्ञी अवश्य उसकी योजना पर विचार करेगी। तब तक उसे ठहरना चाहिए। कोलम्बस ने उनका कहना मान लिया।

सन् १४९२ के जनवरी मास में मूर आक्रान्ता पराजित हुए तथा इस विजय के पांचवें ही दिन साम्राज्ञी ने कोलम्बस को भेंट के लिए बुलाया। कोलम्बस सभा में उपस्थित हुआ। महारानी ने कहा—"अब आप अपने महान स्वप्न की झांकी दीजिये।" कोलम्बस ने कहना शुरू किया—"साम्राज्ञी यह स्वप्न नहीं है। यह एक ऐसा सत्य है जो मेरी कल्पना में मूर्तिमान है। मार्कोपोलो की पुस्तक ने मेरे मन में उसके प्रति आस्था पैदा की थी और अब तक उस आस्था की पुष्टि ही होती रही है। मार्कोपोलो ने जिस वैभव की चर्चा की है आप उसका स्मरण करें। समस्त यूरोप के राज-कक्षों में जितना वैभव नहीं, उससे अधिक कैथे में है। मार्कोपोलो ने लिखा है कि उस देश के भवनों की छतें स्वर्ण मण्डित हैं और वहाँ के बच्चे कीचड़ में रत्नों से खेलते हैं। उस देश के राजपुरुष हाथियों की सवारी करते हैं जिनके दांतों में जवाहरात जड़े रहते हैं। राजेश्वरी, मैं यह प्रण करता हूँ कि यह समस्त वैभव आपके श्री चरणों में उपस्थित कर दूँगा।

मैं आप से केवल तीन जहाज चाहता हूँ। विज्ञान की आज तक उपलब्ध जानकारी के आधार पर मैं खान के साम्राज्य तक पहुँचने का छोटा से छोटा मार्ग ढूंढ निकालूँगा। लेकिन अब मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि अधिक विलम्ब करना ठीक नहीं होगा। पुर्तगालियों ने मेरे मानचित्र चुरा लिए हैं और मैं समझता हूँ कि उनके जहाज उस मार्ग पर चल भी पड़े होंगे। आज आपने मूरों को पराजित कर इस्लाम के पंजे से इस पवित्र भूमि को आजाद कराया है। इससे यद्यपि आपका कोष खाली हो गया है तथापि उसे भरने का भी इससे अच्छा अवसर

और नहीं हो सकता।"

राजदरबार में काफी विचार विमर्श हुआ। किसी ने शंकाएँ कीं, किसी ने समर्थन। साम्राज्ञी के पति विरोध में थे किन्तु साम्राज्ञी स्वयं बहुत प्रभावित थीं। उसने अपने गले से हीरे का हार निकाल कर दे दिया और कहा कि कोलम्बस की यात्रा का प्रबन्ध कर दिया जाय। कोलम्बस की खुशी का ठिकाना न रहा।

तय हुआ कि कोलम्बस की खोज के परिणाम स्वरूप जो कुछ प्राप्त होगा उसका १० वाँ भाग उसे दिया जायगा। उसे महासागर के एडमिरल का पद प्रदान किया जायगा और साथ ही 'डान' का राजपद भी दिया जायगा। इसके साथ-साथ वह जिन प्रदेशों की खोज करेगा उन पर उसे वाइसराय का अधिकार रहेगा तथा वहाँ के लोगों को जीवनदान देने या मृत्यु दण्ड देने का भी अधिकार होगा। कोलम्बस के पुत्र को शिशु युवराज का अनुचर नियुक्त किया गया और उसके लिए उसे ९००० मेराविदीज का पुरस्कार तय किया गया। यह एक बहुत बड़ा सम्मान था जो उन दिनों अभिजात वर्ग को ही प्राप्त होता था।

अब यात्रा की तैयारी प्रारंभ हुई। उसके लिए आवश्यक सामग्री एकत्र की जाने लगी और नाविकों को प्राप्त करने का यत्न किया गया। कोलम्बस के साथ अज्ञात महासागर की यात्रा के लिए तैयार होना बड़ा कठिन कार्य था। कोई भी इसके लिए तैयार नहीं होता था। किन्तु धीरे-धीरे इस कठिनाई पर भी विजय प्राप्त करली गई। अब तीन जहाज यात्रा के लिए तैयार थे—'पिन्ता', 'नीना' और 'सान्ता-मेरिया।' जहाज पर तैनात लोगों में एक दुभाषिया था जो बहुत-सी भाषाएँ जानता था। एक धातुओं का विशेषज्ञ, एक पीपे बनाने वाला और एक लोहार भी था। अनेक सन्दूकों में बहुत-सा तिजारती माल

रख लिया गया था। भोजन पानी के अतिरिक्त मस्तूल और बल्लियाँ, बन्दूक और गोलाबारूद सभी कुछ रख लिया गया था। सान्तामेरिया पर लोम्बार्ड नामक तोपें लगादी गईं और फेल्कोनेट बन्दूकें भी रखली गईं। ३ अगस्त १४९२ को यात्रा प्रारंभ हुई। इस दिन नगर के रास्ते बच्चों और महिलाओं से भरे हुए थे। सबकी आँखों में आँसू थे।

बादबान चढ़े हुए जहाज शानदार गति से आगे बढ़ने लगे। वे ग्रेण्डकनारी पहुँचे और जहाजों की मरम्मत आदि करके पश्चिम दिशा की ओर चल पड़े। अब उनके सामने अन्धकार युक्त सागर था—ऐसा सागर जिसके किनारे का पता आजतक कोई नहीं लगा सका था और जिसके सम्बन्ध में अनेक भयभीत बनाने वाली कथाएँ प्रच-लित थीं। मार्कोपोलो ने अपनी यात्रा भूमि के रास्ते से की थी। वह पूर्वी दिशा में बढ़ता चला गया था और एशिया में कुछ ऐसे स्थानों पर पहुँच गया था जहाँ का वर्णन यूरोप वालों के लिए आकर्षक और आश्चर्यजनक था। अब उन्हीं स्थानों पर कोलम्बस पश्चिम दिशा में यात्रा करके पहुँचना चाहता था। अतः नाविकों ही नहीं उस जमाने के बड़े-बड़े बुद्धिमान लोगों के मन में भी शंका थी। जब वे काफी आगे बढ़ गये तो नाविकों में कानाफूसी प्रारंभ हुई। धीरे-धीरे उसने विद्रोह का रूप धारण कर लिया और वे लोग गुस्से में भरकर कोलम्बस के पास आये। उन्होंने पूछा—"आखिर आप हमें कहाँ ले जारहे हैं?" कोलम्बस ने उन्हें तीव्र दृष्टि से देखा और कहा—"मैं तुम्हें गरीबी से निकाल कर समृद्धि और पामाली से निकाल कर खुश-हाली की ओर लेजा रहा हूँ।" "खुशहाली? इस पागलपन भरी बात के लिए हम अपना जीवन संकट में नहीं डालना चाहते।" "क्या मेरे लिए अपने जीवन का कोई महत्व नहीं, मैं भी तो अपने जीवन को संकट में डाल रहा हूँ। मेरी योजना को सम्राट् और साम्राज्ञी ने समझा

और उसको स्वीकार किया है, अतः वह व्यर्थ नहीं हो सकती।" कोलम्बस ने अपनी सारी योजना उनको समझाई तब कहीं वह तूफान शान्त हुआ।

कोलम्बस ने उनको बताया था कि हम इस सागर में ७०० लीग तक की दूरी तय करेंगे। यदि तब तक भूमि के दर्शन नहीं हुए तो वापिस लौट आयेंगे। मल्लाह अब उस दिन की प्रतीक्षा करने लगे जब वे उस दूरी तक पहुँच कर कोलम्बस से कह सकें कि अब तो लौटना ही चाहिए। कोलम्बस ने उनको बताया कि वे अबतक ५०० लीग ही आये हैं अभी उन्हें २०० लीग का फासला और तय करना है। किन्तु वस्तुतः बात ऐसी नहीं थी। कोलम्बस ने उन्हें सही जानकारी नहीं दी थी। सही जानकारी के अनुसार तो अब तक ७०० लीग का फासला तय कर लिया गया था। कोलम्बस साहस के साथ आगे बढता चला जा रहा था कि १८ सितम्बर के दिन एकाएक उन्हें आकाश मे कुछ चिड़ियाँ उड़ती हुई दिखाई दीं। सबके मन आनन्द से नाच उठे। उन्हें भरोसा हो गया कि अब किनारा पास आ गया है। वे बड़ी उत्सुकता से किनारे की प्रतीक्षा करने लगे।

रात्रि में कभी भ्रम से कहीं प्रकाश दिखाई दे जाता और कभी किनारे के वृक्ष दिखाई दे जाते। किन्तु जैसे-जैसे वे आगे बढ़ते जाते वह सब अदृष्य होता जाता। दिन पर दिन बीत रहे थे किन्तु किनारा दिखाई नहीं दे रहा था। फिर लोगों का उत्साह ठंडा होने लगा। इसी बीच एक दिन जब जहाज खेने वालों ने उसे थोड़ा मार्ग से हटा दिया तो कोलम्बस ने उन्हें फटकारा। बस तूफान फट पड़ा। मल्लाह के पास चाकू पड़ा था उसने उसी को उठाकर कोलम्बस पर फेंक दिया। कोलम्बस ने फुरती से हटकर अपने को बचा लिया। वह उछलकर सामने आया और उसे पकडकर इतने जोर से धक्का दिया कि जीने

से लुढ़कता हुआ नीचे गया और डेक से टकराया। ४–६ व्यक्ति यह द्वन्द देख रहे थे। मल्लाह उठा और कोलम्बस की ओर लपका। इस बीच कोलम्बस ने एक तोप खिसका ली थी। वह गरज कर बोला–"खबरदार, पीछे हट जाओ; वरना मैं यह तोप तुम्हारे सीने पर दाग दूँगा।"

"जो हम कहते हैं वह आपको सुनना पड़ेगा डान एडमिरल! क्या तुम निरस्त्र लोगों को मार गिराओगे?"

"जिस आदमी के हाथ में चाकू है क्या वह निरस्त्र है? जो कुछ तुम्हें कहना है वहीं से कहो।"

अब खड़े हुए मल्लाहों में से एक बोला—"हम चाहते हैं कि जहाजों को मोड़ दिया जाय।" उसके साथ दूसरे अन्य लोगों ने भी कहा—"हाँ, हाँ, लौट चलो।" कोलम्बस ने कहा—"जब तक इसका एक भी तख्ता बाकी रहेगा जहाज आगे ही जायगा। वह पीछे नहीं लौट सकता, नहीं लौट सकता। जिसे लौटना हो समुद्र में कूद पड़े और तैर कर स्पेन चला जाय।" तोप का फैला हुआ मुँह और कोलम्बस की दृढ़ता देखकर मल्लाह अवाक रह गये। किसकी हिम्मत थी जो तोप के सामने खड़ा रहता। सब चुपचाप अपने काम पर चले गये।

बारह अक्टूबर के दिन बहुत सवेरे कुछ लोगों को प्रकाश दिखाई दिया। पहिले तो उन्हें विश्वास नहीं हुआ। किन्तु जब दूसरे लोगों ने भी उसे देखा और प्रात:काल किनारा दिखाई देने लगा तो सब प्रसन्नता से चिल्ला उठे—"टीरा ओहो!" सबने भगवान को धन्यवाद दिया और चारों ओर नौसैनिकों के प्रार्थना-गीत गूंज उठे।

मल्लाहों की आँखें एक लम्बे समय से समुद्र को देखते-देखते थक चुकी थीं। यह हरा-भरा प्रदेश उन्हें बड़ा सुहावना लगा। पिछले ७१ दिनों से लगातार यात्रा करते-करते वे थक गये थे और अब उन्हें नय

भोजन, नया पानी तथा नया जीवन उपलब्ध होने जा रहा था। सबके मन बांसो उछल रहे थे। कोलम्बस की प्रसन्नता का तो कोई ठिकाना ही नहीं था। फिर भी वह अपने कर्तव्यों के प्रति पूरी तरह जागरूक था। उसने लम्बे हरेभरे किनारे पर एक जिज्ञासापूर्ण दृष्टि डाली। राज्याज्ञा के अनुसार वह इस विस्तृत भूखण्ड का वाइसराय था।

लंगर डालने का आदेश मिला और नाविक लोग किश्तियों मे बैठकर किनारे की ओर चले। किनारे पर ताड़ के वृक्ष खड़े थे। जरा और आगे सागौन के बड़े-बड़े वृक्ष, बांस की झाड़ियाँ तथा रंग-बिरंगे पुष्प वाले पेड़ दिखाई दे रहे थे। नंगे इन्डियन लोग तेजी के साथ एक झाड़ी से दूसरी झाड़ी में भाग रहे थे। कोलम्बस अपनी शाहीड्रेस में सबसे आगे वाली किश्ती में बैठकर किनारे की ओर बढ़ा। ज्योंही किश्ती ने जमीन को छुआ एडमिरल कूदकर किनारे पर आ गया। बड़ी उत्सुकता से रेतीले भाग को पार कर घुटनों के बल बैठ गया और उसने धरती का चुम्बन किया। अपनी कृतज्ञता प्रकट करने के लिए उसी समय उसने प्रार्थना की तथा उसके साथ-साथ सारे मल्लाह प्रार्थना करने लग गये। सबके हृदय भक्ति भावना से शराबोर थे। प्रार्थना के बाद वे एक दूसरे के गले मिले। पवित्रता और स्नेह के वातावरण में पुराना बैर-भाव न जाने कहाँ गायब हो गया।

कोलम्बस ने स्पेन का झण्डा इस भूमि पर गाड़ दिया। चारों ओर से हर्ष ध्वनि हुई तथा नाविकों का दल उसके आस-पास घिर आया। तलवार खींचकर कोलम्बस ने कहा—"मेरे मुक्ति के भू-प्रदेश, मैं अपने मुक्तिदाता के नाम पर तेरा नाम 'सान सेल्वाडोर' रखता हूँ।"

इस बीच बहुत से वहशी लोग—जिन्हें कोलम्बस भ्रांतिवश इंडियन कहने लगा था—इकट्ठे हो गये थे। वे सोचने लगे कि ये लोग

सीधे स्वर्ग से आ रहे हैं और जहाज रूपी पक्षी उन्हें वहां से उड़ाकर लाये हैं। धीरे-धीरे वे आगन्तुक लोगों से मिलने-जुलने लगे और इशारे ही इशारे में बातें भी होने लगीं। कोलम्बस ने उन्हें कांच के मोती, घन्टियाँ, आइने आदि चीजें भेंट कीं जिसे लेकर वे बड़े प्रसन्न हुए। बदले में इन वहशी लोगों ने भी अपने यहाँ की कुछ वस्तुएँ उपहार में दीं। इन द्वीपवासियों में से किन्हीं-किन्ही लोगों के पास सोने की पिनें थीं जिन्हें देखकर कोलम्बस ने पूछा कि वह उन्हें कहाँ से प्राप्त हुई। द्वीपवासियों ने संकेत से बताया कि वह उन्हें दूर दक्षिण के एक द्वीप से प्राप्त हुई है।

एक दिन वहां ठहर कर और पानी, भोजन तथा कुछ द्वीपवासियों को लेकर आगे बढ़े। अब उन्हे एक के बाद एक कई द्वीप दिखाई देने लगे। और कुछ आगे बढ़कर उन्होंने एक बड़े द्वीप पर लंगर डाला। एक दिन यहाँ भी ठहरकर वे आगे बढ़ गये। अब वे एक और बड़े द्वीप में पहुँचे जिसे यहाँ के निवासी क्यूबा कहते थे। द्वीपवासियों ने बताया कि यहाँ से ५० मील अन्दर की ओर उनका राजा रहता है। वह बड़ा समृद्ध व्यक्ति है। उसकी सहायता से व्यापार का काम सरल हो जायगा। कोलम्बस ने छ: आदमियों का एक दल उसके पास भेजा ताकि वह राजा को मिलने ले आए और यहाँ पर स्पेन के राजा की ओर से भेजे गये उपहार उसे प्रदान किये जा सकें। यह दल चला और ५० मील की यात्रा कर राजा के पास पहुँचा। लेकिन उसे यह देखकर बड़ी निराशा हुई कि द्वीपवासियों की ही भाँति राजा भी अर्द्धनग्न था। उसके पास अपार वैभव होने की जो बात कही गई थी वह गलत थी।

इसी समय इधर पिन्टा जहाज पर जो दो द्वीपवासी सवार हो गये थे उन्होंने मार्टिन पिजोन के दिमाग में यह बात बैठा दी कि पूर्व

दिशा में वावेक नाम का एक स्वर्ण द्वीप है। पिंजोन के मुँह में पानी भर आया। उसने सोचा यदि मैं अपने जहाज को लेकर वहाँ चला जाऊँ और वहाँ का सारा स्वर्ण अपने जहाज में बटोरकर स्पेन लौट जाऊँ तो जो श्रेय कोलम्बस को मिलने वाला है वह मुझे ही मिल जायगा। मेरा जहाज तो सबसे अच्छा है ही। बस फिर क्या था? वह अपने पिन्टा जहाज को लेकर तेजी से बढ़ गया। रातभर कोलम्बस उसके लिए बेचैन रहा पर उसका पता नहीं लगा। जिस व्यक्ति को कोलम्बस ने जीवन भर अपना मित्र समझा उसीके द्वारा इस प्रकार धोखे दिये जाने पर उसको बड़ी वेदना हुई। किनारे के द्वीपों पर एक-एक दिन ठहरता हुआ वह आगे बढ़ा। इसी समय एक रात को जब वह बहुत थक गया था। तब उसने अपने मुख्य अधिकारी को जहाज के संचालन का काम सौंप दिया और सो गया। अबतक जहाज के संचालन का भार उसने अपने ऊपर ही रखा था। किन्तु इस थोड़े से ही समय में एक दुर्घटना हो गई। मुख्य अधिकारी ने संचालन का काम अपने एक सहायक को सौंप दिया और उसने रेत के एक टीले से जहाज को टकरा दिया। जहाज उसमें फँस गया। कोलम्बस तत्काल जग गया लेकिन अब तो स्थिति बिगड़ चुकी थी। आखिर उसे खाली करके सब लोग 'नीना' मे सवार हुए 'सान्तापेरिया' वहीं छोड़ दिया गया।

अब वह वापिस उसी द्वीप में लौट आया, जहाँ से कल चला था। इस स्थान का राजा गुआकानागारी था। उससे उसका अच्छा परिचय हो गया था। उसने अपने साथियों से कहा—"अब हमारे पास केवल एक जहाज शेष है। उससे सभी आदमियों को स्पेन नहीं ले जाया जा सकता। अत: अच्छा हो कि हम यहाँ एक दुर्ग बना लें और कुछ आदमियों को यहीं छोड़ दें। एक वर्ष के लिए उन्हें जिन चीजों की आवश्यकता रहेगी वह यहाँ रख दी जायगी। इस बीच में स्पेन जाकर

सम्राट और साम्राज्ञी को अपनी विजय का समाचार दे दूँगा और उनकी सहायता प्राप्त करके नये जहाज ले आऊँगा। तब तक आप यहाँ बहुत-सी चीजें एकत्र कर सकते हैं। फिर उन चीजों को भी यहाँ से ले जाने में सुविधा होगी। अतः आपमें से जो यहाँ रहने को तैयार हो अपना हाथ उठाए।" बहुत से लोग तैयार हो गये। एक तो यहाँ का जीवन सरल था, यहाँ बहुत श्रम की आवश्यकता नहीं थी। दूसरे द्वीप-वासियों के सम्पर्क में रहकर बहुत-सा सोना इकट्ठा कर लेने का लोभ भी था। आखिर इतने लोगों में से ३९ व्यक्ति चुने गये और उनके लिए एक किला बनाकर पर्याप्त साधन सामग्री दे दी गई।

२ जनवरी १४९३ के दिन कोलम्बस एक ही जहाज लेकर स्पेन के लिए रवाना हो गया।

स्पेन में सन् १४९३ की वसन्त ऋतु अपना वैभव लुटा रही थी। चारों ओर नया जीवन और नई मस्ती छाई हुई थी। इस आनन्दमय वातावरण को कोलम्बस की सफलता के समाचार ने और अधिक आनन्दमय बना दिया। यद्यपि मार्टिन पिजोन एक-दो दिन पहले ही स्पेन आ गया था और उसने नई दुनिया की खोज का सारा श्रेय स्वयं ही लेने का प्रयत्न किया था तथापि कोलम्बस के आते ही उसकी पोल खुल गई। बेचारा अपमान और लज्जा का जीवन व्यतीत करता हुआ थोड़े समय बाद मर गया।

कोलम्बस का स्वागत बड़ी धूमधाम और उत्साह के साथ हुआ। एक लम्बा-सा जुलूस निकाला गया जिसमें सबसे आगे घोड़े पर सवार होकर कोलम्बस चल रहा था और जैसे-जैसे वह आगे बढ़ता जाता था दोनों ओर से जन-समूह पुष्प-वर्षा करता था। नई दुनिया से लाई हुई चीजें खच्चरों पर लदी हुई पीछे-पीछे चल रही थीं। उसके पीछे नई दुनिया से लाये गये पशु-पक्षी थे और उसके भी पीछे वहाँ के छः द्वीप-

ासी। ये लोग मुँह पर रंग पोते, सिर पर कलगी लगाये और हाथो मे धनुष-बाण लिए हुए चल रहे थे। कभी वे अपने धनुष-बाण कोशल के साथ घुमाते थे,कभी नाचते गाते थे। अन्त में था नौसैनिकों का दल जो हर्षोल्लास से उछल रहा था। जुलूस राजसभा के द्वार तक गया जहाँ स्वयं सम्राट और साम्राज्ञी ने उसका हार्दिक स्वागत किया। साम्राज्ञी ने उसे अपने पास बिठाकर नई दुनिया की खोज की कहानी सुनी। सारी सभा में उल्लास छा गया। कोलम्बस का इतना सम्मान हुआ, जितना पहले किसी व्यक्ति का नहीं हुआ था।

कुछ ही दिन स्पेन में बिताने के बाद साम्राज्ञी ने कोलम्वस को एक दूसरी यात्रा के लिए भेजा। अब उसे १७ जहाज और तीन माल ढोने वाले जहाज दिये गये और इस बेड़े का कप्तान जनरल बनाया गया। १५०० नौसैनिकों की एक सेना उसके कमान में दी गई। मई के महीने मे यात्रा प्रारंभ हुई। इस बार सारी राज्य सभा उसे विदा करने आई। किन्तु अब यात्रा का सारा उत्तरदायित्व उसके ऊपर नहीं था। औपनिवेश विभाग के अध्यक्ष के रूप में फोन्सेका नाम का एक अधिकारी भी उसके साथ था। अब न तो पहिले जैसी उदासी थी, न रोष। यात्रा के लिए खुशी-खुशी सैकड़ों व्यक्ति मिल गये थे और उनके सम्बन्धी वडे हर्षोल्लास के साथ उन्हें बिदा दे रहे थे।

१५ नवम्बर को वे लोग अमेरिका पहुँच गये। किन्तु अब किनारे पर द्वीपवासियों के झुण्ड दिखाई नहीं देते थे। लोग उन्हें देखते ही छिप जाते थे। दो दिन की और यात्रा करके वे हिस्पानियोला पहुँचे। लेकिन उन्हें यह देखकर बड़ी निराशा हुई कि न तो वहाँ कोई स्पेन निवासी मिला न उस किले का ही कोई नाम निशान दिखाई दिया। सारे प्रदेश पर एक सुनसान खामोशी छाई हुई थी। इतने में ही कुछ द्वीपवासी आये और उन्होंने बताया कि यहाँ ठहरे हुए स्पेनवासी सोने की

खोज में इधर-उधर गये और उसके लिये ही यहाँ के एक कबीले से उनका संघर्ष हो गया, जिसमें वे मारे गये ।

अब तो द्वीप के लोगों का रुख ही बदल गया था। न कोई सीधी तरह बोलता था न किसी प्रकार की सहायता ही करता था। स्पेन-वासियों ने लोभ में द्वीपवासियों की सद्भावना समाप्त कर दी थी।

उदास मन से कोलम्बस ने उपनिवेश बसाने के लिए एक दूसरा स्थान चुना । वृक्षों को काटकर अच्छा मैदान तैयार कर लिया गया। जानवरों के लिए एक बाड़ा बनाया गया और नीबू, जैतून आदि के पौधे जो स्पेन से लाये थे लगा दिये गये । खेती भी शुरू की गई। अब एक गिरजाघर के निर्माण का काम प्रारम्भ हुआ और फरवरी की सात तारीख तक उसे तैयार कर लिया गया ।

इतना कर लेने के बाद कोलम्बस ने स्थिति का अध्ययन किया। द्वीपवासी स्पेनवासियों को नहीं चाहते थे और ऐसा लगता था कि लड़ाई अनिवार्य है। कोलम्बस ने किले बन्दी प्रारम्भ की । जब वह पूरी हो गई तो लड़ाई छेड़ दी गई और द्वीपवासियों को पराजित कर दिया गया।

इधर पेड्रोमार्गरेट ने साम्राज्ञी को यह समझा दिया कि कोल-म्बस तो एक अयोग्य व्यक्ति है। साम्राज्ञी उसके फुसलाने में आगई। उसने गवर्नर आगुजाडो को भेजा कि वह हिस्पानियोला जाकर एड-मिरल कोलम्बस के स्थान पर कब्जा करले । वह आया और उसने कोलम्बस को पदच्युत कर दिया । कोलम्बस तत्काल स्पेन के लिए रवाना हो गया लेकिन अब न उसका कोई स्वागत हुआ न उसके आगमन को ही कोई महत्व दिया गया। इस बार सम्राट से भेंट करने के लिए भी उसे एक वर्ष तक प्रतीक्षा करनी पड़ी। वर्ष भर बाद जब वह सम्राट से मिला तो उसने उसे छः जहाज दिये और ५००

मल्लाह। ये मल्लाह कोई अच्छे सामुद्रिक नहीं थे। ये कैदी लोग थे। उसे कहा गया था कि वह हिस्पोनियोला से दूर रहेगा और नये स्थानो की यात्रा करके नई खोज करेगा। कोलम्बस चल दिया और ओरोनिको नदी के मुहाने पर पहुँच कर उसने अमेरिका महाद्वीप की खोज की। वहाँ वह काफी बीमार हो गया। यद्यपि उसे हिस्पानियोला नही जाना था तथापि उसके बिना कोई चारा भी नहीं रहा था। क्योंकि एक तो उसके मल्लाह निकम्मे थे दूसरे इस यात्रा में तीन जहाज बेकार हो गये थे। सन् १४९८ के अगस्त मास में वह हिस्पानियोला पहुँचा। वहाँ विद्रोह की आग फैल चुकी थी। गवर्नर आगुआडो कत्ल कर दिया गया था और सैनिक दो दलों में बँट गए थे। बहुत दिनों तक आपसी लड़ाई-झगड़े चलते रहे। इसी बीच सम्राट के राजदूत की हैसियत से स्थिति की जाँच करने के लिए फ्रान्सिस्को डी बोबाडीला को भेजा गया। उसने कोलम्बस एवं उसके भाई बार्टोलोमिया को गिरफ्तार कर जेल में डाल दिया तथा स्पेन भेज दिया। जब स्पेन में यह समाचार फैला तो सारी जनता भयभीत हो गई। स्वयं सम्राट को भी यह अच्छा नहीं लगा। उसने २००० स्वर्ण मुद्राओं के साथ एक सन्देश भेजा कि कोलम्बस अपने पद के अनुरूप वेशभूषा की व्यवस्था करके उसके सामने उपस्थित हो। कोलम्बस गया और उसकी दर्द भरी कहानी सुनकर सम्राट और साम्राज्ञी के हृदय द्रवित हो गये। उन्होंने उसके इलाज की समुचित व्यवस्था कर दी।

लेकिन कोलम्बस ने चुपचाप बैठे रहना तो सीखा ही नहीं था। थोड़ा-सा ही स्वास्थ्य सुधार होने पर उसने सम्राट से चौथी समुद्र यात्रा के लिए प्रार्थना की। सम्राट ने उसे चार जहाज और १५० मल्लाह दिये किन्तु जहाज अच्छे नहीं थे। वे अमेरिका तो पहुँच गये पर आरोनीको नदी के डल्टा से उठने वाले तूफानों से इतने परेशान

हुए कि जहाजों के मस्तूल टूट गए और पेंदियों में दरारें पड़ गईं। विवश होकर उसे जमाइका के अभिन्न टापू पर रुकना पड़ा। यहाँ के निवासियों ने तीरों की बौछार से उसका स्वागत किया। बड़ी कठिन समस्या उपस्थित हुई। कोलम्बस ने बार्लोलोमियो को एक नाव देकर हिस्पोनिओला से सहायता प्राप्त करने के लिए भेजा। यद्यपि सहा-यता मिली और उसके द्वारा वह स्पेन भी पहुँच गया किन्तु बहुत देर से। दुर्भाग्य से अब साम्राज्ञी मर चुकी थी। कोलम्बस वैसे ही जर्जर हो गया था, इस आघात से और भी जर्जर हो गया। उसका बहुत बड़ा सहारा समाप्त हो गया था।

कुछ दिनों बीमार रहकर सन् १५०६ में २० मई के दिन वह स्वर्ग सिधार गया। यद्यपि वह अब नहीं है। तथापि निरन्तर खतरों, कष्टों, विद्रोहों और शंकाओं का मुकाबला करते हुए उसने अमेरीका महाद्वीप के रूप में जो भेंट दुनिया को दी है वह युगों तक विस्मृत न हो सकेगी।

गेलीलियो गेलीली

: ४ :

गैलीलियो गैलीली

यह सौभाग्य की बात है कि आज जिस युग में हम लोग रह रहे हैं वह विज्ञान के प्रकाश से जगमग है। विज्ञान जीवन के प्रत्येक क्षेत्र पर छा गया है और सभी उसकी शीतल छाया में सुख शान्ति का अनुभव करने लगे हैं। आज विज्ञान की शक्ति से हम आकाश में उड़ सकते हैं, समुद्र की गहराई में परिभ्रमण कर सकते हैं और घर बैठे हजारों मील दूर के लोगों से बातचीत कर सकते हैं। विज्ञान ने जल, थल, आकाश सभी पर अपनी विजय पताका फहरा दी है। अब विज्ञान हमारे जीवन का आधार स्तम्भ बन गया है। हमारी जानकारी का ही नहीं, सुख सुविधा का क्षेत्र भी उसने काफी विस्तृत कर दिया है। हमारा व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन, हमारा सभ्यता और संस्कृति सभी विज्ञान की ओर आशाभरी दृष्टि से देख रहे हैं। इन सबका विकास, इन सबकी समृद्धि विज्ञान की शक्ति पर निर्भर है।

किन्तु विज्ञान का यह प्रकाश पिछले ३५०-४०० वर्षों में ही फैला है। उसके पहिले तो चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार था। मनुष्य का ज्ञान थोड़ी सी धर्म पुस्तकों तक सीमित था। जो कुछ उनमें लिखा था, वही सत्य था, वही शिव था और वही सुन्दर भी था। वस्तुत वह श्रद्धा का, अन्ध विश्वास का युग था। धर्माचार्य जो कुछ कह गये हैं वही उस युग का सत्य था। उसके विरुद्ध कुछ भी बोलना धर्म के प्रति विद्रोह करना था और यह विद्रोह था अक्षम्य अपराध। इसीलिए तो जब-जब जिस-जिस ने विद्रोह का झंडा उठाया तब-तब उसे कुचल दिया गया। ईसा को इसी अपराध में फाँसी पर लटका दिया गया और

सुकरात को इसी अपराध में जहर का प्याला पिलाया गया। लेकिन क्या कभी सच्चाई का बीज पैरों तले कुचले जाने पर भी नष्ट हो जाता है ? वह तो मिट्टी में मिलकर चौगुनी ताकत से ऊँचा सिर किए हुए खड़ा होता है। आज से चार सौ वर्ष पूर्व लोगों के अन्धविश्वास को जोर का धक्का देकर, विश्व में विज्ञान की पावन किरणें लाने वाले तथा उसके लिए शिवशंकर की तरह दुनिया के अपमान और क्रोध का विष-पान करनेवाले आधुनिक वैज्ञानिकों के पितामह श्री गेलीलियो गेलीली के जीवन की कहानी ही हम आगे की पंक्तियों में दे रहे हैं।

गेलीलियो का जन्म इटली के टकसनी प्रान्त के पिसा नामक नगर में सन् १५६४ के फरवरी मास में हुआ था। पिता का नाम था विसेंजो गेलीलि। पिता यद्यपि एक प्रतिष्ठित घराने के व्यक्ति थे तथापि अब उनकी आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी। संगीत में उनकी गहरी रुचि थी और यही उनकी जीविका का साधक भी बन गया था, लेकिन उससे इतनी आमदनी तो होती नहीं थी कि आराम के साथ जीवन बिताया जा सके। अतः जीवन की गाड़ी कष्ट से ही चलती थी। इसी कारण वे अपने पुत्र की शिक्षा-दीक्षा का समुचित प्रबन्ध भी नहीं कर सके। संगीत वे जरूर सिखा सकते थे लेकिन उससे तो जीविका की समस्या हल नहीं हो सकती थी। उन्होंने गेलीलियो को एक कपड़े की दूकान पर नौकर रखवा दिया। पढ़ने का मौका ही नहीं मिला फिर भी इस काम को परिश्रम और बुद्धिमत्ता से करके गेलीलियो ने यह प्रकट कर दिया कि वह प्रतिभाशाली और होनहार है। पिता बेटे के काम से प्रभावित हुए और उसकी प्रतिभा को चमकने का अव-सर देने के लिए कष्ट उठाकर भी उसे पढ़ाने का निश्चय कर लिया।

गेलीलियो पिसा के विश्वविद्यालय में भर्ती हुए और उसकी विधि-वत शिक्षा प्रारम्भ हुई। बिना समझे बूझे किसी बात को स्वीकार कर

लेना उसका स्वभाव ही नहीं था अतः प्रारम्भ से ही अध्यापकों से उसका मतभेद होने लगा और वे उसे उपेक्षा एवं उपहास की दृष्टि से देखने लगे। विद्यार्थी भी उसे उल्टे-सीधे नाम रखकर चिढाते थे। लेकिन गेलीलियो ने प्रश्न करना बन्द नहीं किया। अध्यापक पुराने ग्रीक दर्शनशास्त्रियों की बात को दुहराते रहते थे और उन्हीं पर विश्वास करने के लिए बार-बार जोर देते थे। परिणाम यह हुआ कि दर्शनशास्त्र से ही गेलीलियो को अरुचि हो गई और वह गणित के अध्ययन की ओर आकर्षित हुआ।

उसके गणित सीखने की कहानी बड़ी मनोरंजक है। उन दिनों गणित के नये विद्वान अध्यापक विश्वविद्यालय में आये थे। संयोग से गेलीलियो ने उनका भाषण सुना और प्रभावित हुआ। वह गणित का विद्यार्थी तो था नहीं जो उनकी क्लास में बैठ पाता अतः दरवाजे के पास खड़ा रहकर चुपचाप उनका भाषण सुनता रहता। कुछ समय बाद वह साहस करके उनसे मिला और गणित सीखने की इच्छा व्यक्त की। अध्यापक गेलीलियो के गणित प्रेम से बड़े प्रभावित हुए और उन्होंने उसकी बहुत-सी कठिनाई हल करने में आगे उसकी पर्याप्त सहायता की। इस सहायता से गेलीलियो शीघ्र ही गणित के अच्छे-अच्छे विद्यार्थियों में गिना जाने लगा।

वैज्ञानिक सत्यान्वेषी होता है। गेलीलियो में यह गुण बचपन से ही था। एक दिन वह पिसा के गिरजाघर में खड़ा था कि उसने वहाँ जंजीर से लटकता हुआ एक लेम्प देखा। जब दरवाजा खुलता तो उसके तनाव से लेम्प तेजी के साथ हिलने लगता और फिर धीरे-धीरे शान्त हो जाता। ध्यानपूर्वक देखने पर उसने अनुभव किया कि चाहे वह तेजी से हिले चाहे धीरे, लेम्प को एक सिरे से दूसरे सिरे तक जाने में लगभग वही समय लगता है। इस विचार की सत्यता की जाँच करने के

लिए उसने अपनी नाड़ी पर हाथ रखा और धड़कनें गिनकर देख लिया कि उक्त विचार बिलकुल ठीक है। इस घटना से उसने एक नियम 'पेण्डूलम का नियम' खोज निकाला। वह इस नतीजे पर पहुँच गया कि जिस प्रकार नाड़ी की गति से लेम्प की गति की जाँच की जा सकती है उसी प्रकार लेम्प की गति से नाड़ी की गति की भी जाँच की जा सकती है। इस सिद्धान्त के आधार पर शीघ्र ही उसने एक ऐसा यन्त्र बना लिया जिससे नाड़ी की गति की जाँच की जा सके। यह यन्त्र डाक्टरों के लिए बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ। वैसे लेम्प को हिलते हुए और स्थिर होते हुए हजारों आदमियों ने देखा होगा लेकिन कितने आदमियों की वह सूक्ष्म दृष्टि होगी जो गेलीलियो की थी।

पिसा विश्वविद्यालय में उसने गणित का अच्छा अध्ययन तो कर लिया था लेकिन उसके पास इतने पैसे कहाँ थे जो परीक्षा देकर उपाधि प्राप्त करता। अतः वह बिना उपाधि लिए ही फ्लोरेन्स चला गया। अब अपनी आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए वह कोई काम तलाश करना चाहता था और इस सम्बन्ध में पूर्व की ओर जाने का निश्चय भी उसने कर लिया था कि ग्रान्ड ड्यूक आफ टस्कनी उसकी प्रतिभा से प्रभावित हुआ और उसने पिसा के विश्वविद्यालय में ही उसे गणित का अध्यापक बनवा दिया। यद्यपि इन दिनों वेतन के रूप में प्रति सप्ताह ५ शिलिंग ही मिलते थे तथापि वह बड़ा सम्माननीय पद था। उसे पाकर गेली-लियो प्रसन्न ही हुआ।

विद्यार्थी जीवन की तरह इस जीवन के श्रीगणेश में भी उसे एक तूफान का सामना करना पड़ा। एक ओर उसकी बढ़ती हुई लोकप्रियता साथी अध्यापकों की ईर्ष्या का कारण बन रही थी, दूसरी ओर अरस्तू जैसे प्राचीन दार्शनिकों के सिद्धान्तों का खण्डन उनके विश्वास और श्रद्धा को धक्का पहुँचाने लगे थे। गेलीलियो तो सत्यान्वेषक और बुद्धि

वादी था अत: जो कुछ उसे असत्य और त्रुटिपूर्ण लगता उसकी खुले-आम धज्जियाँ उड़ा देता था। परिणामस्वरूप अध्यापकों की अप्रसन्नता बढ़ती चढ़ती गई। इस सबको और अधिक न चलने देने के लिए गेलीलियो ने प्रत्यक्ष रूप से प्रयोग करके अपने विचारों की सत्यता प्रकट करने का निश्चय किया। अरस्तू ने लिखा था कि यदि ऊपर से एक हल्की और एक भारी वस्तु गिराई जाय तो भारी वस्तु हल्की वस्तु की अपेक्षा तौल में जितने गुना भारी होगी उतने ही पहिले पृथ्वी पर गिरेगी। इस सिद्धान्त को वर्षों से आँख मूँदकर लोग सही मानते चले आ रहे थे। किसी ने भी प्रयोग करके इसे जाँचने का प्रयत्न नहीं किया था। गेलीलियो के प्रयोगों से यह गलत सिद्ध हुआ। अतः उसने अपने विद्यार्थियों और साथी अध्यापकों को पिसा की मीनार के पास इकट्ठा किया। वह दो गोले लेकर मीनार पर चढ़ा। एक हलका था, एक भारी। ऊपर पहुँचकर उसने सबके सामने दोनों गोले एक साथ गिराये। दोनों गोले साथ-साथ जमीन पर गिरे और उनके साथ पुराने विश्वासों का खोखलापन भी सिद्ध हो गया।

इस घटना से आध्यापकों की शंका का निराकरण हो जाना चाहिए था। लेकिन कटुता इतनी बढ़ चुकी थी कि यह सच्चाई भी उसे दूर न कर सकी। वातावरण उसके प्रतिकूल होता ही गया। आखिर उसने तंग आकर नौकरी छोड़ दी। कुछ समय बाद उसी ड्यूक की सहायता से वह पदुआ में गणित का अध्यापक बन गया। यहाँ पढ़े लिखे लोगों की संख्या काफी थी अतः शीघ्र ही उसके अनुकूल वातावरण बन गया। यहाँ जगह-जगह सभाओं में उसे भाषण देने के लिए बुलाया जाने लगा। यद्यपि अब भी वह पुराने विचारों का खण्डन करता था तथापि उसके भाषण इतने विचारोत्तेजक होते थे कि लोग मन्त्र-मुग्ध होकर सुनते ही रहते थे। बहुत से प्रिन्स और ड्यूक उसके पास

गणित सीखने के लिए आने लगे और उसके शिष्य हो गए। उसके भाषण इतने प्रभावशाली होते थे कि उस समय के इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध डॉक्टर विलियम हार्वे जिन्होंने रक्त संचार के नियम की शोध की थी, उसका भाषण सुनने के लिए आए। कभी-कभी तो उसका भाषण सुनने इतने ज्यादा लोग आ जाते थे कि विद्यालय का बड़ा हॉल भी छोटा पड़ जाता और उसे बाहर खुले मैदान में जाकर भाषण देना पड़ता। इस ख्याति का प्रभाव उसकी आय पर भी पड़ा। अब उसे काफी वेतन मिलने लगा।

गेलीलियो स्वभाव से ही उदार था। पिता की मृत्यु से अब यद्यपि उसके ऊपर सारे परिवार का बोझ आ गया था। तथापि वह अपने साथ कुछ गरीब विद्यार्थियों को भी रखता था और उनका बहुत-सा खर्च स्वयं उठाता था। उसने विद्यार्थियों के लिए बगीचे वाला एक अच्छा-सा मकान खरीदा और एक कारखाना भी बनाया। सन् १६०२ में उसने एक 'एयर थर्मामीटर' बनाया। यद्यपि यह यन्त्र उसके जीवन काल में पूरा नहीं हो सका तथापि यदि वह पूरा हो जाता तो बड़ा महत्वपूर्ण सिद्ध होता। कारखाने में उसके द्वारा आविष्कृत यन्त्र बनाये जाते थे।

सन् १६०९ में वह वेनिस गया। वहाँ उसने सुना कि हालैण्ड के एक चश्मा बनाने वाले ने एक दूरदर्शक यन्त्र बनाया है। बस वह भी इस काम में जुट गया और उसने उसे बिना देखे ही तैयार कर लिया। गेलीलियो ने जस्ते की एक नलिका ली और दो ताल लिए जो एक ओर तो समतल थे किन्तु दूसरी ओर उन्नतोदर और नतोदर थे। उसने इन दोनों को उचित स्थान पर लगाकर यह यन्त्र बनाया। नंगी आँख से हम जितनी दूर की चीज देख सकते हैं उसकी अपेक्षा तिगुनी दूर की चीजें इससे दिखाई देने लगी। आगे चलकर उसने इस यन्त्र में कुछ और संशोधन किया और उसे अधिक शक्तिशाली बना दिया

दूरदर्शक यन्त्र के आविष्कार से वेनिस शहर में उसकी धूम मच गई। यन्त्र देखने के लिए उसके घर प्रतिदिन सैकड़ों व्यक्तियों की भीड़ लगने लगी। यन्त्र की सफलता के सम्बन्ध में इन्हीं दिनों गैलीलियो ने अपने एक मित्र को पत्र में लिखा था—'बहुत से बड़े बूढ़े विद्वान और राजनीतिज्ञ यहाँ आकर वेनिस के सबसे ऊंचे घण्टाघरों पर चढ़ते हैं और इस यन्त्र की सहायता से आने वाले जहाजों को ५०-६० मील की दूरी पर ही देख लेते हैं। यदि यह यन्त्र न हो तो जब तक जहाज काफी पास न आ जाय दिखाई नहीं दे सकता है। इस यन्त्र की सहायता से आने वाले जहाजों को २ घण्टे पहिले ही देख लिया जा सकता है। अब ५० मील के अन्तर पर खड़ा हुआ जहाज ऐसा दिखाई देता है जैसे वह ५ मील के ही फासले पर खड़ा हुआ है।' जब यह खबर 'डाज आफ वेनिस' के पास पहुँची तो उसने गैलीलियो को बुलाया और कहा कि वह उसके लिए भी एक अच्छा यन्त्र तैयार कर दे। गैलीलियो ने उसी समय उसे अपना सबसे अच्छा यन्त्र भेंट कर दिया। इससे प्रसन्न होकर उसने गैलीलियो का वेतन दुगना कर दिया और उसे जीवन भर के लिए विश्वविद्यालय का प्राध्यापक बना दिया।

यद्यपि दूरदर्शक यन्त्र की बड़ी प्रशंसा हुई और चारों ओर से उसकी माँग भी बहुत आने लगी जिससे कारखाने का काम काफी बढ़ गया तथापि वह इतने से ही सन्तुष्ट नहीं हुआ। काफी परिश्रम करके उसने इस यन्त्र में बहुत से संशोधन किये और उसे पहिले से तीस गुना ज्यादा शक्तिशाली बना दिया। इस नवीन आविष्कार से तो जैसे दुनिया के ज्ञान का भण्डार ही खुल गया। उसकी सहायता से पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र तथा दूसरे नक्षत्रों की बहुत-सी सही जानकारी प्राप्त होने लगी तथा इस सम्बन्ध में फैली हुई बहुत-सी भ्रान्त मान्यताओं का भी निराकरण हो गया।

अब तक ज्योतिषियों की यह मान्यता थी कि चन्द्रमा का पृष्ठ भाग चिकना है। लेकिन इस यन्त्र से चन्द्रमा को देखकर गेलीलियो इस निश्चय पर पहुँचा कि यह मान्यता गलत है। उसने चन्द्रमा पर तीन-तीन, चार-चार मील की ऊँचाई वाले पहाड़ देखे। इतना ही नही उसने दूसरे बहुत से ग्रह उपग्रहों का भी अध्ययन कर डाला और उसकी जानकारी लोगों को दी। नंगी आँख से आकाश में जितने तारे दिखाई देते हैं उससे दस गुना ज्यादा तारे इस यन्त्र की सहायता से दिखाई देने लगे और आकाश गंगा के सम्बन्ध में बहुत-सी भ्रान्त मान्यताओं का निराकरण करके गेलीलियों ने बता दिया कि वह और कुछ नहीं तारों का समूह मात्र है। पहिली बार किसी ने इन बातों पर विश्वास नहीं किया। लेकिन जब उसने अपने यन्त्र की सहायता से यह सब दिखा भी दिया तो लोग चकित रह गये। फिर भी उस जमाने में ऐसे भी विद्वान थे जिन्होंने इस डर से उस यन्त्र का ही उपयोग नहीं किया कि कहीं उनकी पुरानी धारणाओं को धक्का न लगे।

अब तक लोगों की यह धारणा थी कि पृथ्वी दुनिया के केन्द्रों मे स्थिति है तथा सारे ग्रह और उपग्रह उसके आस-पास घूमते हैं। यह बात सबसे पहले टालमी नामक एक ग्रीक दार्शनिक ने दूसरी शताब्दी मे बताई थी। उसे मरे हजार से ज्यादा वर्ष बीत गए लेकिन कोई भी उसको असत्य सिद्ध नहीं कर सका था। हजार वर्ष बाद पोलेण्ड के कोपर्निकस नामक ज्योतिषी ने सबसे पहिले यह बताया कि टालमी ने जो कुछ लिखा वह सब गलत है। उसने बताया कि विश्व का केन्द्र पृथ्वी नहीं सूर्य है और यह पृथ्वी ग्रहों के साथ उसी के आस-पास चक्कर लगाती है। यह सब उसने गेलीलियो के यन्त्र बनने के ५० वर्ष पहिले ही कह दिया था। लेकिन उस समय उसपर किसी ने विश्वास

नहीं किया। उल्टे धर्म विरोधी कहकर उसकी भर्त्सना की और उसकी पुस्तकों पर प्रतिबन्ध लगा दिये । अब गेलीलियो भी लगभग उन्हीं निश्चयों पर पहुँचा था अतः उसने कोपर्निकस की बातों का जोरदार शब्दों में समर्थन किया। टालमी और अरस्तू के विचारों में विश्वास रखने वाले पुराण पंथियों को यह सब अच्छा नहीं लगा। वे गेलीलियो से बहुत चिढ़ गये । उनके पास कोई तर्क तो था नहीं अतः उन्होंने पोप और 'एक्वीजीशन' की शरण ली । एक्वीजीशन उस समय का एक ऐसा न्यायालय था जिसमें धर्म विरोधी बातें कहने वालों पर मुक-दमा चलाया जाता था और सजाएँ दी जाती थी । इधर पादरियो ने भी गेलीलियो विरोधी आन्दोलन में बड़ा योग दिया। ये लोग रोमन केथोलिक चर्च में कुछ सुधार करके प्रोटेस्टेण्ट लोगों को फिर से अपने मे मिलाना चाहते थे। इनका सबसे बड़ा नियम था कि धर्म ग्रन्थों की बातों को बिना निर्णय किये स्वीकार किया जाय। जो भी इसके विरुद्ध आवाज उठाता था उसे ये पोप और एक्वीजीशन की सहायता से कुचल देने का प्रयत्न करते थे। पोप घोषणा कर चुका था कि कोप-र्निकस के विचार धर्म-विरोधी हैं अतः उसका समर्थन भी धर्म विरोधी ही था जो बड़ा खतरे से भरा हुआ था । परन्तु गेलीलियो सत्य को कैसे छिपाता ? जानते-बूझते हुए उसे खतरा मोल लेना ही पड़ा।

दुर्भाग्य से इन्हीं दिनों 'डाज आफ वेनिस' का संरक्षण छोड़कर वह पडुआ से पिसा आगया। यहाँ टस्कनी के ग्राण्ड ड्यूक ने उसे अपने दरबार का मुख्य दार्शनिक और गणितज्ञ बनाकर उसका काफी सम्मान किया था। यहाँ विद्यार्थियों को पढ़ाने जैसा तो कोई काम था नहीं अतः वह अपना पूरा समय नये-नये आविष्कारों तथा नवीन चिन्तन में लगा सकता था। इसी आकर्षण से वह यहाँ आया भी

था। लेकिन यहाँ आकर उसने भूल ही की थी। यहाँ पादरियों का बड़ा जोर था अतः यहाँ रहना खतरे से खाली नहीं था। सुरक्षा की दृष्टि से तो पडुआ में डाज आफ वेनिस का शासन ही उसके लिए बहुत अच्छा था। वहाँ उसके विचारों और कार्यों पर कोई रोक-टोक नहीं थी। लेकिन तुलसीदासजी ने ठीक ही कहा है—

तुलसी जस भवितव्यता तैसी मिली सहाय
आप न आवे ताहि पै, ताहि तहाँ ले जाय।

पिसा आकर उसने अपना सारा समय अन्वेषण आविष्कार में लगाना प्रारम्भ किया। जैसे-जैसे वह गहराई में गया कोपर्निकस के विचारों की सच्चाई स्पष्ट होती गई और वह उसकी विद्वता का कायल होता गया। लेकिन जैसे-जैसे उसका यह विश्वास बढ़ता जाता था वैसे-वैसे पादरियों का क्रोध भी बढ़ता जाता था। गेलीलियो से यह सब छिपा हुआ नहीं था। तूफान बढ़ता देखकर उसने स्वयं ही रोम जाकर पोप से मिलने का निश्चय किया। ताकि अपने सम्बन्ध में फैली हुई गलत धारणाओं का निराकरण करके अपने अन्वेषणों का सही रूप वह पोप तथा अन्य विद्वानों के सामने रख सके। पोप ने आदर के साथ उसका स्वागत किया और बड़े ध्यान से उसकी बात सुनी। उसने गेलीलियो के अन्वेषणों की सच्चाई की जाँच करने के लिए चार विद्वानों की एक समिति बनाई और उसको यह काम सौंप दिया। समिति ने पूरी जाँच-पड़ताल की, लेकिन अपनी पूरी ताकत लगाकर भी वह गेलीलियो की किसी मान्यता को गलत सिद्ध नहीं कर सकी।

इधर रोम में जनता ने गेलीलियो का बड़ा स्वागत किया। वहाँ ऐसे बहुत से दार्शनिक, वैज्ञानिक और विद्वान भी थे जो उसके विचारों और अन्वेषणों में दिलचस्पी रखते थे तथा उन्हें आशा भरी दृष्टि से

देखते थे। रोम की वैज्ञानिक संस्था ने तो उसका जी खोलकर स्वागत किया। किन्तु इस सब स्वागत सत्कार का एक्वीजीशन तथा पादरियों की वक्र दृष्टि पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। खतरा पूरी तरह टल नहीं सका।

रोम में ही रहते हुए गेलीलियो ने अपने एक नये आविष्कार की घोषणा की। उसने बताया कि सूर्य के ऊपर धब्बे हैं। इस घोषणा ने पादरियों का क्रोध और बढ़ा दिया और वे जोर शोर से गेलीलियो के विरोध में प्रचार करने लगे। परिस्थिति विषम बनने लगी। बहुत से वैज्ञानिक भी पादरियों के साथ हो गये। यद्यपि वे उसके अन्वेषणों को गलत सिद्ध नहीं कर सके तथापि उन्होंने उस पर बाइबिल की शिक्षाओं से इन्कार करने का आरोप लगा दिया। बाइबिल में लिखा था कि सूर्य पृथ्वी के आसपास घूमता है जबकि गेलीलियो इससे उल्टी ही बात कह रहा था। इसी समय एक्वीजीशन के पास गेलीलियो का वह पत्र भी पहुँच गया जिसमें उसने अपने किसी मित्र को लिखा था कि कोपर्निकस के विचार सही हैं। अब क्या था? मुकदमा चलाने के लिए इतना पर्याप्त था। मुकदमा चलाया गया। बहुत दिनों तक कार्यवाही चलती रही। उसे काफी डराया धमकाया गया और अन्त में उसे यह कड़ी चेतावनी दी गई कि वह अपना गलत और धर्म विरोधी प्रचार एकदम बन्द कर दे।

इस मुसीबत के टल जाने पर गेलीलियो ने कुछ समय तक चुपचाप रहना ही ठीक समझा। अब उसकी आयु भी काफी हो गई थी और वृद्धावस्था के कारण वह बीमार रहने लगा था। किन्तु उसका शोध-कार्य बन्द नहीं हुआ। अपनी रोम यात्रा में उसने एक सूक्ष्म दर्शक यन्त्र देखा था। जिससे छोटी चीजें बड़े आकार में दिखाई देती थी। गेली-लियो ने इस सम्बन्ध में सोच विचार किया और थोड़े समय बाद ही

उससे भी ज्यादा शक्तिशाली यन्त्र बना लिया इस यन्त्र के द्वारा वैज्ञानिक जगत को उसने एक और बहुत बड़ी देन दी। अपने दूरदर्शक यन्त्र का आविष्कार करके जहाँ उसने लोगों को यह बात बताई कि दुनिया ठीक वैसी नहीं है जैसी पुराने लोग बताते हैं वह उससे बहुत विशाल और बहुत भिन्न है, वहाँ इस सूक्ष्म दर्शक यन्त्र से उसने बहुत सूक्ष्म और बारीक वस्तुओं के ज्ञान का दरवाजा भी खोल दिया। इसी सूक्ष्म दर्शक यन्त्र की सहायता से आगे चलकर डा० पास्ट्यूअर और डा० लीस्टर ने कीटाणुओं से उत्पन्न होने वाली बीमारियों का ज्ञान प्राप्त किया और मानव समाज को एक बहुत बड़े अभिशाप से मुक्ति दिलाने का प्रयत्न किया।

सन् १६३२ में गेलीलियो ने एक ऐसी पुस्तक प्रकाशित करवाई जिसमें टालमी के विचारों का खण्डन तथा कोपर्निकस के विचारों का समर्थन किया गया था। पुस्तक का नाम था—'डायलाग्ज ऑन दी टू सिस्टिम्स आफ दी वर्ल्ड'। इस पुस्तक के प्रकाशन से तो पोप और उसके अनुयायी बहुत चिढ़ गये। उन्होंने किताब की बिक्री पर प्रतिबन्ध लगा दिया और उसे जब्त कर लिया। गेलीलियो को इन्क्वीजीशन के सामने उपस्थित होने के लिए बुलाया गया और मुकदमा चलाया गया। मुकदमे की कार्यवाही कई महीनों तक चलती रही। मुकदमे के दिनों किसी भी आदमी से उसका मिलना-जुलना बन्द कर दिया गया। इस कठिन समय में ड्यूक आफ टस्कनी तथा उसके अन्य शुभचिन्तक और मित्रगण भी उसकी कोई मदद नहीं कर सके। न्यायाधीश उसे प्रतिदिन डराते धमकाते और उस पर यह जोर डालते थे कि वह अपनी भूल स्वीकार करले। उसे कई तरह के कष्ट दिये गये और अन्त में यह स्वीकार करने के लिए विवश कर दिया गया कि उसने जो कुछ कहा और लिखा है वह सब झूठ है। बड़ी कृपा दिखाते हुए वृद्धावस्था के कारण उसे मुक्त

किया गया। किन्तु साथ ही उस पर कई प्रतिबन्ध भी लगा दिये गये। लेकिन ये सब बाधा बन्धन ज्ञान की ज्योति को बुझा नहीं सके। वह अन्त तक अपना कार्य करता रहा। उसने गुप्त रूप से हॉलेण्ड में अपनी दूसरी पुस्तक प्रकाशित करवा ही दी।

वृद्धावस्था जैसे-जैसे बढ़ती जा रही थी वैसे-वैसे उसकी दृष्टि मन्द होती जा रही थी। यहाँ तक कि सन् १६३७ में वह एकदम चली गई। अन्धा हो जाने पर उसने अपने एक मित्र को लिखा था—'आह अपनी आश्चर्यजनक खोजों के द्वारा मैंने जिस विश्व को पुराने लोगों की मान्यताओं की अपेक्षा सैकड़ों गुना अधिक विस्तृत कर दिया था वही अब मेरे एन्द्रिक ज्ञान की सीमा तक सिकुड़ कर छोटा हो गया है।' अब यद्यपि वह हमेशा बीमार रहता था और उसकी आँखें भी चली गई थी तथापि उसका वैज्ञानिक चिन्तन बन्द नहीं हुआ था। मृत्यु के कुछ ही समय पहिले उसने अपने पुत्र को बताया कि घड़ी की गति को सही और नियमित बनाने के लिए पेण्डूलम का उपयोग कैसे करना चाहिए। उसकी सूचनाओं के अनुसार घड़ी बनाने का काम प्रारंभ कर दिया गया लेकिन उसके बनने के पूर्व ही सन् १६४२ में ८ जनवरी के दिन उसका देहान्त हो गया। पोप ने उसके शव का जुलूस निकालने की इजाजत नहीं दी और न उसकी संगमरमर की मूर्ति ही स्थापित होने दी। लेकिन लोगों के हृदय में उसकी जो मूर्ति स्थापित होगई थी क्या कोई उसे तोड़-फोड़ सकता था? और ज्ञान का, सत्यान्वेषण का जो दीपक उसने जलाया था क्या कोई उसे भी बुझा सकता था? यदि पोप जीवित होता तो देखता कि गेलीलियो की मृत्यु से वह ज्योति बुझना तो दूर निरन्तर प्रखर होती गई और उस अज्ञान अन्धकार को मिटाकर ही रही जिसकी रक्षा गेलीलियो को मिटाकर वह करना चाहता था।

सर आइज़क न्यूटन

: ५ :

सर आइजक न्यूटन

आज से लगभग तीन शताब्दी पूर्व एक दिन आकाश में एक रहस्यपूर्ण प्रकाश की ज्योति देखकर लिंकनशायर के किसान बड़े परेशान हो उठे थे। प्रकाश की वह ज्योति उन्हें पुच्छल तारे सी प्रतीत हुई। सब भयभीत से, सबके मुँह पर एक ही बात —'यह पुच्छलतारा बड़े भारी संकट का प्रतीक है। अब या तो लड़ाई छिड़ेगी या महामारी फैलेगी। या तो राजा की मृत्यु होगी या किसी अन्य बड़े आदमी की।' चिन्ता और परेशानी के इन बादलों को हवा में उड़ाते हुए एकाएक एक आदमी ने कहा–'यह पुच्छलतारा नहीं। वह तो आइजक न्यूटन की करामात है। उसने कागज का लालटेन बनाकर उसमें मोमबत्ती रख दी है और उसे पतंग के निचले सिरे से बांधकर आकाश में उड़ाया है।' उदासी तो गायब हुई पर सबके चेहरे पर आश्चर्य और प्रसन्नता की रेखाएँ खिंच गईं। बच्चे इस नई चीज को देखने के लिए दौड़ पड़े। बूढ़ों में से किसी ने कहा–वह बड़ा बुद्धिमान और होनहार लड़का है। किसी तीसरे ने कहा–कामचोर है; कामचोर; इसीलिए तो फिजूल की बातों में समय गंवाता रहता है। क्या आप बता सकते हैं कि किसकी बात सच थी ?

आइजक न्यूटन का जन्म सन् १६४२ के दिसम्बर मास में ठीक २५ तारीख को इंग्लैण्ड के वूल्स थोर्प नामक ग्राम में हुआ था। २५ दिसम्बर ईसा का जन्म दिन है अतः उस दिन जन्म होना बड़े सौभाग्य की बात समझी जाती है। इस दिन जन्म देकर शायद ईश्वर ने पहले से ही उसकी महानता का संकेत कर दिया था। लेकिन यह जन्मकाल

जितना शुभ और मंगल का सूचक था उतनी ही विषम स्थिति जन्मत न्यूटन को प्राप्त हुई थी। उसके जन्म के कुछ ही महीने पहले पिता स्वर्ग सिधार गये थे और माँ वैधव्य की चिन्ता और परेशानी से दु खी थी। न्यूटन की स्थिति एक अनाथ और निराश्रित बालक जैसी ही थी। न तो उसकी समुचित देखभाल और पालन-पोषण हो सका न उसे माता-पिता का स्नेह ही मिल सका। वह अक्सर बीमार रहता था। बचपन में वह इतना दुबला पतला था कि पास पड़ोस की स्त्रियाँ उसे गोद में लेते हुए भी डरती थीं। सब समझाते थे कि वह कुछ ही दिनों का मेहमान है।

एक बार वह बीमार हुआ। पड़ोस की दो स्त्रियाँ दवा लेने गई। मार्ग में सोचती रही कि जब तक वे दवाई लेकर लौटेगी तब तक वह शायद ही जीवित रह सकेगा। लेकिन भगवान तो यह नहीं चाहता था। वह तो उससे बड़े-बड़े सेवा कार्य करवाना चाहता था। शायद यही कारण था कि बीमारी की भयंकर आग में तपकर भी वह जीवित बच गया।

लेकिन अभी न्यूटन की कठिनाइयों का अंत कहाँ था ? पैतृक सम्पति के रूप में कुछ खेत ही उसके पास थे जो पूरी तरह निर्वाह के लिए भी पर्याप्त नहीं थे। बचपन बड़ी कठिनाई में बीतने लगा। यदि इन दिनों कोई सहारा था तो वह उसकी माँ। लेकिन भाग्य ने उसे भी छीन लिया। आर्थिक कठिनाइयों से परेशान होकर उसने दूसरा विवाह कर लिया ओर न्यूटन को उसकी नानी के पास छोड़-कर अपने पति के साथ रहने चली गई। अब बूढ़ी नानी ही उसका एक मात्र अवलम्ब रह गई। नानी ने बड़े दुलार से उसका पालन पोषण किया। जब वह कुछ बड़ा हुआ तो उसकी शिक्षा का प्रबन्ध किया गया। उस गाँव में तो पाठशाला थी ही नहीं वहाँ से छ मील दूर

ग्रेथम नामक कस्बे की पाठशाला में उसे भर्ती करवाया गया। वहाँ वह पाठशाला में पढ़ता और एक दवा बेचने वाले के घर रहता था। इस समय वह १२ वर्ष का था।

न्यूटन भर्ती तो हो गया लेकिन पढ़ने लिखने में उसका मन नहीं लगता था। कभी वह साथियों के साथ यान्त्रिक खिलौने बनाता था, कभी घड़ियों को दुरुस्त करता था और कभी तारों की गति का अध्ययन करता था। प्रायः दिन-दिन भर इन्हीं में खोया रहता था। छोटी आयु में ही उसने अपने घर की दीवार पर एक धूप घड़ी बनाई थी जो बहुत दिनों तक वैसी ही बनी रही।

ऊपर कहा गया है कि पढ़ने लिखने में उसका मन नहीं लगता था लेकिन अचानक एक ऐसी घटना हुई जिसने उसकी जीवन धारा को अनुकूल दिशा में मोड़ दिया। पाठशाला के एक लड़के से उसकी कहा सुनी हो गई। वह लड़का उम्र में तो बड़ा था ही मोटा ताजा भी था। उसने न्यूटन के पेट में लात मार दी। न्यूटन गुस्से से लाल हो गया और पूरी ताकत से उस पर टूट पड़ा देखते ही देखते उसने उसे जमीन पर दे मारा और उसका सारा घमण्ड चूर-चूर कर दिया। देखने वाले चकित रह गये। स्वयं न्यूटन को भी भरोसा नहीं था कि वह इतने बड़े लड़के को गिरा सकेगा। बस इस घटना ने उसकी हीन भावना को झकझोर दिया। उसका मन आत्मविश्वास की चमक से जगमगा उठा। वह लड़का बड़ा तो था ही क्लास में भी न्यूटन से बहुत आगे था। पढ़ने में हमेशा पहले रहता था।इधर न्यूटन दुबला-पतला तो था ही पढ़ने लिखने में भी सबसे पीछे।लेकिन शीघ्र ही उसके मन में यह विचार आया कि यदि वह कुश्ती में उसे पछाड़ सकता है तो फिर पढ़ने लिखने में क्यों नहीं पछाड़ सकता ? और यदि वह पूरी ताकत लगाकर पढ़ने लिखने में भी पछाड़ सके तो वही उसकी सच्ची

जीत होगी। कुश्ती की विजय, विजय तो है लेकिन पूरी विजय नही। उसे लेकर कक्षा में ऊँचे सिर से नहीं घूम सकता। उसका मन कक्षा की विजय के लिये भी बेचेन हो उठा और सारी पाठशाला उस समय चकित रह गई जब लोगों ने देखा कि वह कक्षा ही नहीं सारी पाठशाला मे भी प्रथम रहने लगा है।

पढ़ने लिखने के साथ न्यूटन के दूसरे काम भी चलते रहे। उसने इन दिनों एक ऐसी गाड़ी बनाई जिसमें सवार होकर वह खुद ही उसे चला सकता था। पाठशाला के पास वाली एक चक्की की ओर एक दिन उसका ध्यान आकर्षित हुआ। कुछ समय तक अपने मकान की छत से उसे ध्यानपूर्वक देखते रहने के बाद उसने एक नई चक्की बना डाली। यह चक्की उस पुरानी चक्की से सचमुच अधिक उपयोगी और अद्‌भुत थी। पुरानी चक्की हवा से चलती थी। यदि हवा बन्द हो जाती तो चक्की भी बन्द हो जाती थी। लेकिन न्यूटन की चक्की मे यह कमी नहीं थी। अपनी चक्की हमेशा चलाते रहने के लिये उसने एक चूहा पकड़ रखा था। जब हवा बन्द होने से चक्की बन्द होने लगती तो न्यूटन चूहे को चक्की के भीतर के पहिए पर लगा देता। पहिए से कुछ दूर पर अनाज रखा रहता था। चूहा अनाज खाने के लिए दौड़ता और उसके धक्के से चक्की चलने लगती थी। इन आविष्कारों और कक्षा की सफलताओं ने सबका ध्यान उसकी ओर आकर्षित कर दिया था। सब उसे एक होनहार युवक मानते थे।

न्यूटन की शिक्षा अच्छी तरह चलने लगी थी लेकिन दुर्भाग्य को यह भी सहन नहीं हुआ। उसकी माँ का दूसरा पति भी मर गया और वह गाँव में ही आकर रहने के लिए विवश हो गई। परिवार के निर्वाह का एक मात्र साधन वे खेत ही थे। लेकिन खेती करे तो कौन? माँ ने न्यूटन को अपने पास बुलवा लिया और खेती के काम में लगा दिया।

उसे खेती का काम एक बूढ़ा नौकर सिखाता था किन्तु न्यूटन का तो इसमें मन ही नहीं लगता था। जब वह बाजार भेजा जाता तो सौदा खरीदने बेचने का काम नौकर पर छोड़कर जत्तार की दुकान में जा बैठता और किताबें पढ़ता रहता। सारा काम पूरा करके जब नौकर घर लौटने को होता तो वह भी उसके साथ घर चला आता था। कभी-कभी तो वह बाजार भी नहीं जाता और मार्ग में ही किसी झाड़ी के नीचे बैठ कर पढ़ता रहता और जब नौकर लौटता तो उसके साथ लौट आता। ज्ञान की प्यास बड़ी तीव्रता से न्यूटन के मन में पैदा हो चुकी थी अ‍ौर किताबों के अलावा उसे कुछ अच्छा ही नहीं लगता था। उसका लगभग पूरा समय अध्ययन चिन्तन में ही बीत जाता था। जब वह भेड़, बकरियाँ चराने जाता तो उन्हें चरता हुआ छोड़कर पुस्तक पढ़ने न लग जाता। बकरियाँ दूसरों के खेत में घुसकर नुकसान कर देती लेकिन न्यूटन अपने ही काम में मस्त रहता। माँ के पास न्यूटन की लापरवाही की शिकायतें अक्सर पहुँचती रहती थी। लेकिन वह परेशान होकर रह जाती। नौकर भी कहता रहता था कि बीज बोने, हल चलाने, सिचाई करने और अनाज काटने के काम में न्यूटन की जरा सी भी दिलचस्पी नहीं है। वह खेती का काम किसी प्रकार नहीं कर सकता। लेकिन दूसरी ओर से कुछ लोग उसकी प्रशंसा भी करते थे। अत: अधिक परेशान होने तथा न्यूटन को कहने-सुनने के बजाय वह चुप ही रह जाती थी। जब उसने देख लिया कि वह खेती का काम नहीं सीख सकता। पढ़ने लिखने में ही कुछ प्रगति कर सकता है तो उसने उसे फिर पढ़ने भेज दिया।

इस समय न्यूटन की उम्र अठारह वर्ष की थी। एक साल ग्रेन्थम की पाठशाला में पढ़कर उसने वहाँ की शिक्षा पूरी करली और आगामी वर्ष केम्ब्रिज के विश्वविद्यालय में भर्ती हो गया। केम्ब्रिज में पढ़ाई का

काम तो अच्छी तरह चलने लगा लेकिन आर्थिक कठिनाइयाँ उसका पीछा नहीं छोड़ रही थीं। इस प्रश्न को हल करने के लिए पहिले तो उसने एक जगह नौकर का काम करना प्रारंभ कर दिया और फिर कॉलेज में ही थोड़ा-सा काम कर लेने से उसकी समस्या हल हो गई। उन दिनों धनी विद्यार्थियों को परोसने आदि का काम गरीब विद्यार्थियों से ही करवा लिया जाता था और इसके बदले में उन्हें निःशुल्क भोजन दे दिया जाता था।

न्यूटन यद्यपि एक गरीब विद्यार्थी था तथापि अपनी प्रतिभा से शीघ्र ही केम्ब्रिज के उस विद्यालय में भी चमकने लग गया। गणित में तो उसकी प्रगति आश्चर्यजनक थी। अध्यापक तक उसकी बुद्धिमत्ता से चकित रह जाते थे। अपनी २३ वर्ष की आयु में ही उसने हिसाब के कुछ ऐसे तरीके ढूँढ़ निकाले थे जो बड़े उपयोगी सिद्ध हुए और अब तक वैज्ञानिक उन तरीकों से लाभ उठा रहे हैं। हिसाब की इन पद्धतियों ने वैज्ञानिकों का काम सरल बना दिया है। अपने लजीले स्वभाव के कारण बहुत दिनों तक उसने अपने शोध कार्य का विवरण लोगों के सामने नहीं रखा लेकिन जब कुछ लोगों ने यह प्रचार किया कि यह तो उनकी अपनी शोध है तब उसने पुस्तकें लिखी और सिद्ध कर दिया कि वह सारा प्रचार भ्रामक था।

जिन दिनों वह कॉलेज में पढ़ रहा था। उन्हीं दिनों इग्लैंड में प्लेग फैला। विश्वविद्यालय के अधिकारियों ने कॉलेज बन्द कर दिया। शिक्षा के काम में इससे एक बाधा ही पैदा हुई लेकिन न्यूटन के लिए तो वह वरदान बन गई। इस अवकाश में अपने अन्वेषण कार्य को आगे बढ़ाने का उसे बहुत अच्छा मौका मिल गया। बाल्यकाल से ही ज्योतिष-शास्त्र में उसकी रुचि थी और वह रात्रि के समय बहुत देर तक तारों को देखता रहता था। उस समय तारों की गति देखने का एक मात्र

साधन गेलीलियो का दूरदर्शक यन्त्र ही था। लेकिन यह यन्त्र इतना अच्छा नहीं था कि दूर के तारों के बारे में भी अच्छी जानकारी मिल सके। उसमें सूर्य, चन्द्र तथा अन्य ग्रहों की प्रतिच्छाया भी काफी अस्पष्ट और विकृत रूप में दिखाई देती थी। अतः न्यूटन ने अच्छे दूरदर्शक यन्त्र बनाने का प्रयत्न किया। जब उसने यह काम प्रारम्भ किया तो उसे शीघ्र ही यह अनुभव हुआ कि अच्छा दूरदर्शक यन्त्र बनाने के लिए प्रकाश और रंग का अध्ययन आवश्यक है। उसने 'प्रिज्म' की सहायता से अनेक प्रयोग किए। उसने अपने कमरे को चारों ओर से बन्द करके पूरी तरह अंधेरा बना लिया और फिर खिड़की की दराज में एक छोटा सा छेद बना लिया ताकि केवल उसी जगह से प्रकाश आ सके। अब उसने इस छेद के सामने प्रिज्म रखा और उसकी प्रतिच्छाया दीवार पर डालकर प्रयोग करना प्रारंभ किया। उसने देखा कि प्रतिच्छाया बहुत सुन्दर-सुन्दर रंग बिखेरती है। इस परिणाम से इसे इतनी प्रसन्नता हुई कि उसने बारबार यह प्रयोग किया और फिर भी उसका मन नहीं भरा। उसने बारबार देखा कि जब किरण 'प्रिज्म' में से गुजरती है तो विभिन्न प्रकार के रंगों की एक पंक्ति-सी बना देती है। उसने इन रंगों को ध्यान से देखा और गिना भी। ये सात रंग थे—लाल, पीला, नीला, हरा, आसमानी, बैंगनी और नारंगी। यह निश्चय करने के लिए कि कहीं इस 'प्रिज्म' में तो कोई दोष नहीं है उसने दूसरे कई 'प्रिज्म' लेकर उनसे गुजरनेवाली प्रतिच्छाया का भी निरीक्षण किया और प्रत्येक बार में सात ही रंग देखे। अब उसे विश्वास हो गया कि प्रकाश सात रंगों से बना है। इसके बाद उसने दो 'प्रिज्म' लिए और उन्हें छेद के सामने इस प्रकार रखा कि प्रकाश की किरण एक में से गुजर कर बाद में दूसरे में से गुजरे। उसने देखा कि ऐसा करने से दीवार पर सफेद प्रतिच्छाया गिरती है। अब उसे पूरा विश्वास हो गया

कि उसने एक नई शोध कर ली है। इस शोध ने आगे इसी प्रकार के अनेक शोधों का मार्ग मुक्त कर दिया। तार, बेतार का तार आदि इसी प्रकार की शोध के परिणाम हैं।

अपने इस शोध कार्य के आधार पर न्यूटन ने एक ऐसा दूरदर्शक यन्त्र बना लिया जो पहिले वाले सब यन्त्रों से अधिक स्पष्ट और अधिक शक्तिशाली था। यह यन्त्र छोटा भी काफी था। इसकी लम्बाई छ इन्च और गोलाई १ इंच थी। इस नवीन आविष्कार से ग्रीनविच, माउन्ट विल्सन तथा केलीफोर्निया की वैधशालाओं में रखे हुए बड़े-बड़े दूरदर्शक यन्त्र पुराने पड़ गए। इस यन्त्र ने ही सबसे पहिले न्यूटन का नाम चारों ओर प्रसिद्ध कर दिया। जब रायल सोसायटी को इस आविष्कार की खबर लगी तो उसके कुछ प्रतिनिधियों ने शीघ्र ही वहाँ जाकर इस यन्त्र को देखा। इसी आविष्कार के कारण सन् १६७१ में जब उसकी आयु २६ वर्ष की ही थी उसे केम्ब्रिज में ही गणित के प्राध्यापक का पद देकर सम्मानित किया गया। एक ही वर्ष बाद रायल सोसायटी ने उसे अपना फेलो चुना और उससे और अधिक सम्माननीय पद पर आसीन कर दिया। किसी भी वैज्ञानिक के लिए उन दिनों इस सोसायटी का फेलो चुना जाना बहुत बड़ा सम्मान था। यह सम्मान उसी व्यक्ति को दिया जाता था जो अपने शोधकार्य से वैज्ञानिक ज्ञान में नवीन वृद्धि करता था। इस सोसायटी को बने बहुत दिन नहीं हुए थे। गृह युद्ध के दिनों जब चार्ल्स प्रथम और पार्लियामेण्ट की सेनाएँ एक दूसरे के विनाश के लिए जी तोड़ प्रयत्न कर रही थी तब कुछ अंग्रेज वैज्ञानिकों ने आपस में चर्चा करने के लिए प्रति सप्ताह किसी एक स्थान पर एकत्र होने का नियम बनाया था। उन दिनों कुछ लोग आक्सफोर्ड में एकत्र होते थे; कुछ लन्दन में। सन् १६६० में ये दोनों दल एक हो गए और उन्होंने सोसायटी की

स्थापना की। शीघ्र ही सोसायटी को राजा का संरक्षण भी प्राप्त हो गया और चार्ल्स द्वितीय ने उसका सदस्य बनना स्वीकार कर लिया।

इस छोटी-सी आयु में न्यूटन जैसे गरीब किसान युवक को बहुत बड़ा सम्मान प्राप्त हो गया। फिर भी उसका मन इनमें उलझ नहीं पाया। वह सदैव सीधा-सादा और आडम्बरहीन जीवन बिताता रहा। यहाँ तक कि रायल सोसायटी के काम में भी उसने विशेष दिलचस्पी नहीं ली। आश्चर्य की बात तो यह है कि वह अपने बहुत बड़े अन्वेषण कार्य 'गुरुत्वाकर्षण' के सिद्धान्त के बारे में भी लगभग २० वर्षों तक मौन रहा।

न्यूटन के बहुत से आविष्कार उसके अपने गाँव वूल्सथोर्प में ही हुए थे। प्लेग के कारण जब कालेज बन्द हो गया और उसे गाँव में रहना पड़ा तो उसने बहुत से आविष्कारों के बारे में सोच विचार और प्रयोग किए। न्यूटन के पहिले गैलीलियो और कोपर्निकस ने पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र तथा अन्य ग्रहों के बारे में बहुत-सी शोध की थी। उन्होंने इस मान्यता को गलत सिद्ध कर दिया था कि पृथ्वी ही इस विश्व का केन्द्र है। उन्होंने बताया था कि सूर्य विश्व का केन्द्र है। पृथ्वी चौबीस घण्टे में एक बार अपने आसपास चक्कर लगाती है तथा वर्ष में एक बार सूर्य के आसपास। गैलीलियो के दूरदर्शक यन्त्र ने उनकी बातों की सत्यता भी सिद्ध कर दी थी। लेकिन अभी तक इस प्रश्न का उत्तर नहीं मिल पाया था कि पृथ्वी, चन्द्र, सूर्य तथा अन्य ग्रह घूमते क्यों हैं? न्यूटन के मन में यही प्रश्न बहुत दिनों तक घूमता रहा।

एक दिन वह वाटिका में बैठा हुआ था। अचानक एक सेब पेड़ से टूट कर ज़मीन पर गिरा। उसे सीधे जमीन पर गिरते देखकर न्यूटन के मन में

प्रश्न उठा कि यह सीधे जमीन पर ही क्यों गिरा ? वह दाँये-बाँये या इधर-उधर क्यों नहीं गिरा ? बस वह इस निश्चय पर पहुँच गया कि पृथ्वी म शक्ति है । प्रश्न का उत्तर सहज ही मिल गया । आकर्षण शक्ति के ही कारण चन्द्र अपने से भारी पृथ्वी के आसपास घूमता है और पृथ्वी अपने से भारी सूर्य के आसपास । जिस प्रकार रस्सी में बँधा हुआ पत्थर घुमाने पर घुमाने वाले के आसपास गोलाकार बनाता हुआ घूमता है उसी प्रकार चन्द्र पृथ्वी के तथा पृथ्वी सूर्य के आसपास गोलाकार घूमते हैं। बस यह छोटी-सी घटना ही न्यूटन के प्रसिद्ध गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त की जन्मदात्री बन गई ।

सफलता की अनुभूति होते ही न्यूटन प्रसन्नता से उछल पड़ा । उसने मन-ही-मन कहा मैंने वह नियम ढूँढ़ लिया है जिससे सारी सृष्टि परिचालित होती है । लेकिन जब हिसाब लगाकर उसने इसे जाँचना चाहा तो बड़ी निराशा हुई । गणित से वह सही सिद्ध नहीं हो सका। उसे लगा कि यह सिद्धान्त सही नहीं है और उसने उसे छोड़ दिया। बहुत दिनों के बाद सोच-विचार करते-करते उसे फिर से यह निश्चय हुआ कि वह गलत नहीं है उसने हिसाब लगाने में ही भूल की थी । अब वह गणित से भी पूरी तरह सिद्ध हो गया । इस सफलता ने न्यूटन की प्रसिद्धि में चार चाँद लगा दिए । अब तो वह सारी दुनिया में प्रसिद्ध हो गया । उसे इतनी प्रसिद्धि मिलते देखकर कुछ वैज्ञानिक ईर्षा से जल उठे । कहने लगे—'यह सिद्धान्त तो हमने बहुत पहिले ही ढूँढ़ निकाला था । न्यूटन ने तो हमारे विचारों को चुरा लिया है ।' अपने स्वभाव के अनुसार न्यूटन चुप रहा, लेकिन जब मित्रों ने बहुत जोर दिया कि उसे अपना स्पष्टीकरण दुनिया के सामने रखना ही चाहिए तो उसने अपने शोधकार्य का पूरा-पूरा विवरण लिखना प्रारम्भ किया । यह विवरण सन् १६८७ में Principia

(गणित दर्शन के सिद्धान्त) नामक पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुआ। इस पुस्तक के प्रकाशित होते ही सारी भ्रान्त धारणाएँ समाप्त हो गईं। इसे तैयार करने में उसे पूरे दो वर्ष तक कड़ा श्रम करना पड़ा था। यह पुस्तक इतनी विद्वत्तापूर्ण है कि आज भी बड़े-बड़े गणितज्ञ ही इसे समझ पाते हैं।

वैज्ञानिक कार्यों में इतना व्यस्त रह कर भी न्यूटन अपने आस-पास की घटनाओं से एकदम बेखबर नहीं रहता था। जब समय आता तो वह लोकहित के अन्य काम करने में भी हिचकता नहीं था। जब वह केम्ब्रिज में प्रोफेसर था तो चार्ल्स द्वितीय के बाद जेम्स द्वितीय राजा बना। वह रोमन केथोलिक था और चाहता था कि सारे इंग्लैण्ड को उसी धर्म का अनुयायी बना दिया जाय। अतः उसने एक कानून बनाकर विश्वविद्यालय के उच्च पदों पर केवल रोमन केथोलिक लोगों की ही नियुक्ति वैध घोषित करदी। विश्वविद्यालय में नियुक्ति का सिद्धान्त योग्यता होनी चाहिए थी न कि धर्म। धर्म को वहाँ प्रमुखता देना तो विश्वविद्यालय की स्वतन्त्रता का अपहरण करना ही था। अतः विश्वविद्यालय के कार्यकर्ता परेशान हो उठे। सबने मिलकर विरोध करने का निश्चय किया और न्यूटन को अपना नेता चुना। न्यूटन ने बिना कोई अनिच्छा प्रकट किए उसे स्वीकार कर लिया। उसने पूरी शक्ति लगाकर काम किया। परिणाम यह हुआ कि इस काम में भी उसे सफलता मिली। राजा ने कानून वापस ले लिया। उसके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करने के लिए विश्वविद्यालय की ओर से उसे सन् १६८८ में पार्लियामेण्ट का सदस्य चुना गया। जब जेम्स द्वितीय फ्रान्स भाग गया तो पार्लियामेण्ट के एक सदस्य के रूप में उसने विलियम तृतीय का स्वागत किया और उसे राजसिंहासन पर आसीन किया।

दो वर्ष तक पार्लियामेंट में रहकर न्यूटन फिर से वैज्ञानिक कार्यों में जुट गया। वस्तुतः यही उसका प्रिय विषय था, यही उसका जीवन कार्य था। इस काम में वह इतना तन्मय हो जाता था कि उसे खाने पीने की भी सुध नहीं रहती थी। कहा जाता है कि एक बार कुछ मेहमान उसके घर आये। वह शराब लेने गया लेकिन जब वह बहुत देर बाद भी नहीं लौटा तो उसकी तलाश होने लगी। लोगों को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि वह अपने कमरे में बैठा हुआ कुछ प्रयोग कर रहा था। इसी प्रकार एक दिन एक मित्र उससे मिलने आया। वह प्रतीक्षा करता हुआ बैठा रहा। इस बीच नौकर भोजन रख गया लेकिन दो घण्टे तक भी न्यूटन नहीं आया। यह देखकर मित्र ने खाना खा लिया और चला गया। जब न्यूटन लौटा तो खाना साफ था। वह बोल उठा—'ओह, मैं भूल गया कि भोजन तो मैं पहिले ही कर चुका था।'

वैज्ञानिक प्रतिभा के साथ-साथ न्यूटन में उच्चकोटि का प्रबन्ध कौशल भी था। इसका परिचय उस समय मिला जब उसे टकसालों का काम सौंपा गया। मेरी और विलियम के शासनकाल में इंग्लैण्ड आर्थिक दुरावस्था के दलदल में फँस गया था। टकसालों में भ्रष्टाचार का बोलबाला हो गया। कर्मचारी मनमानी करने लगे और केवल अपनी स्वार्थ सिद्धि में ही रत रहने लगे। यह सब देखकर सरकार ने न्यूटन को टकसाल का सर्वोच्च अधिकारी बनाया। उसने इस बिगड़ी हुई स्थिति को ठीक करने के लिए काफी श्रम किया और टकसाल में फिर सुव्यवस्था स्थापित कर दी। इससे प्रसन्न होकर सरकार ने सन् १७०५ में उसे सर की उपाधि प्रदान की। इसके एक वर्ष बाद रायल सोसायटी ने उसे प्रेसीडेण्ट चुना।

न्यूटन का शेष जीवन बड़े मान-सम्मान और सम्पन्नता में बीता।

वह एक अच्छे से बंगले में रहता था तथा उसके पास बहुत से नौकर चाकर और एक बग्घी थी। बड़े-से-बड़े कवि, कलाकार और राजनीतिज्ञ उससे मित्रता करने में सौभाग्य मानते थे। लेकिन इतना सम्मान प्राप्त करके भी उसे घमण्ड छू तक नहीं गया था। उसने कभी अपने आविष्कारों की प्रशंसा अपने मुँह से नहीं की। कठिन परिश्रम ही उसकी सफलता की कुंजी थी। इसी कुंजी से उसने प्रत्येक प्रश्न को हल किया था।

सन् १७२७ में ८५ वर्ष की आयु में उसने अपनी जीवन लीला समाप्त की। राजकीय सम्मान के साथ वेस्ट मिनिस्टर एबे में उसका शव दफनाया गया। उसकी मृत्यु से उस युग का सबसे बड़ा वैज्ञानिक उठ गया।

वह बड़ा निरभिमानी और विनम्र था। जब सारी दुनिया उसे अपने युग का बहुत बड़ा विद्वान मानती थी तब वह अपने बारे में कहता था—'मुझे ज्ञात नहीं है कि संसार की दृष्टि में मैं क्या हूँ। परन्तु मैं तो अपनी दृष्टि में उस अबोध बालक की तरह हूँ जो विशाल समुद्र तट पर बैठकर घोंघे और कंकरों से ही खेलता है।' न्यूटन का अक्रोश भी बड़ा प्रसिद्ध है। एक बार वह कुछ महत्वपूर्ण कागज मेज पर छोड़कर बाहर गया। कमरे में मोमबत्ती जल रही थी और उसका प्यारा कुत्ता डायमण्ड अंगीठी के पास सोया हुआ था। अचानक कुत्ते को न जाने क्या सूझा कि वह उछला और मोमबत्ती कागजों पर गिर पड़ी। कागज जल कर राख हो गये। जब न्यूटन वापिस लौटा तो यह सब देखकर स्तब्ध रह गया। इन कागजों में उसकी प्रकाश सम्बन्धी शोध का २० वर्ष का काम था। दुःख तो बहुत हुआ लेकिन दूसरे ही क्षण जब कुत्ता दुम हिलाता हुआ उसके पास आया तो वह इतना ही बोला—'डायमण्ड, तू नहीं जानता तूने मेरा कितना बड़ा

नुकसान कर डाला है।' इस घटना का उसके स्वास्थ्य पर बहुत बुरा असर पड़ा लेकिन उसने किसी से भी उसका जिक्र नहीं किया।

इन गुणों के साथ-साथ उसकी सादगी भी अनुकरणीय थी। काफी पैसा और मान सम्मान प्राप्त हो जाने पर भी उसमें कोई अन्तर नहीं आया था। उसका रहन-सहन, वेष-भूषा और खान-पान सब कुछ उसी प्रकार सीधे-साधे बने रहे। यही कारण था कि उसे ८२ वर्ष की दीर्घ आयु प्राप्त हुई थी। अन्त तक उसे चश्मा लगाने की आवश्यकता नहीं पड़ी और इतनी आयु में भी केवल उसका एक दाँत ही गिरा था। उसकी सात्विक वृत्ति का परिचय तो इसी से मिलता है कि वह तम्बाकू भी नहीं पीता था। परोपकार भी उसका स्वभाव बन गया था। उसकी आय का बहुत-सा भाग दीन-दुखियों की सहायता तथा विद्या की उन्नति में ही खर्च होता था। वैज्ञानिक बुद्धिमत्ता के साथ-साथ उसमें उच्च नैतिक गुणों का भी अच्छा समन्वय हुआ था। पोप ने उसके सम्बन्ध में ठीक ही कहा था—

Nature and nature's laws lay hid in night
God said let Newton be and all was light.

: ६ :

अब्राहम लिंकन

"चिर विश्राम लेनेवाले साथी जो ऊँचे आदर्शों के लिए समर्पित हुए, उनके अधूरे कार्य के चरणों में अपने को अर्पित कर देना आज हमारा आद्य कर्तव्य है। हमारे समक्ष जो महान कर्तव्य आ पड़ा है। उसी पर हमें मर मिटना है। इन पूजनीय मृतात्माओं से हमे अपने आदर्श पर समर्पित हो जाने का साहस और अनन्य श्रद्धा की प्रेरणा प्राप्त करती है जिन्होंने अप्रतिम भाव से अपनी आत्मा को लगा कर, अपने कर्तव्य को करते हुए बलिदान पथ स्वीकार किया है। हम आज संकल्प करें कि उनका बलिदान वृथा नहीं होगा। साथ ही यह भी निश्चय करें कि ईश्वर की साक्षी से यह प्रजा अपनी नई स्वतन्त्रता का स्वागत करेगी और जनता की यह सरकार जनता के लिए जनता के द्वारा ही कार्य करती रहेगी और इस धरती से कभी विलिप्ट नही होगी।"

—अब्राहम लिंकन

कोलम्बस की यात्रा के बाद अमेरिका मे बसने का मार्ग खुल गया। धीरे-धीरे यूरोप के अनेक देश अपने बेड़े के साथ वहाँ पहुँचे और उन्होंने उसके बहुत से भाग पर अधिकार कर लिया। १७वीं शताब्दी के अन्त तक अमेरिका के एक बहुत बड़े भाग में वे लोग बस गये। अमेरिका की भूमि तो अच्छी थी ही अतः खेती का काम प्रारंभ हुआ और धीरे-धीरे कुछ उद्योग धन्धे भी शुरू हो गये। इस नई दुनिया मे भूमि की कमी नहीं थी। कमी थी तो मजदूरों की। यूरोपवासी तो खेती बारी का काम नहीं करना चाहते थे। वे चाहते थे कि मजदूर मिल जाएं जिनसे खेती बाड़ी का काम करवाते रहें और स्वयं आनन्द का जीवन बिताए। बस, उन्होंने इस काम के लिए अमेरिका के आदि-वासियों का उपयोग करना प्रारंभ किया। वे उन्हें पकड़ लाते और दास

अब्राहम लिंकन

बना लेते। दासों के साथ बड़ा असानवीय व्यवहार होता था। एक ओर उनसे कड़ा काम करवाया जाता था, दूसरी ओर रूखा-सूखा भोजन दिया जाता था। न उनके स्वास्थ्य की चिन्ता की जाती थी न आराम की। दास का जीवन अपमान, अत्याचार और नृशंसता की हृदय विदारक कहानी थी। जरा-जरा सी भूल पर उन्हें कोड़े पड़ते थे और जरा-जरा से अपराध पर उसके हाथ पैर काट लिए जाते थे। मानो उनके लिए न कोई आराम था न कोई सुख सुविधा। इतना ही नहीं कई बार तो दासों को जानवरों की तरह खरीदा और बेचा जाता था तथा मालिकों को उन्हें जीते जी जला देने तक का अधिकार रहता था।

धीरे-धीरे इस अन्याय और अत्याचार की ओर सहृदय लोगों का ध्यान गया। उन्होंने इसके विरुद्ध आवाज उठाना आरंभ किया। किन्तु किसी भी समाज में इस प्रकार के आदमी कितने होते हैं? जो भी थोड़े से व्यक्ति यह आवाज उठाते थे उनकी बात नक्कार खाने में तूती की आवाज की तरह खो जाती थी। दासों का व्यापार करने वाले क्रूर और स्वार्थी लोग उसकी कोई चिन्ता नहीं करते थे। धीरे-धीरे यह आवाज बुलन्द होने लगी और अमेरिका के हजारों लाखों आदिवासियों को स्वतन्त्रता और समानता का दर्जा दिलाने का कठिन कार्य एक महा-पुरुष ने अपने ऊपर ले लिया। वह महापुरुष ही हमारा चरित्र नायक अब्राहम लिंकन है। अब्राहम लिंकन ने अपने प्राणों की बाजी लगाकर इस अन्याय का मुकाबला किया और अमेरिका से उसे समाप्त करके ही चैन लिया।

अब्राहम लिंकन का जन्म सन् १८०९ के फरवरी मास में अमेरिका की केन्टकी नामक रियासत में हुआ। उसके माता-पिता कुछ ही वर्षों पहिले अमेरिका आये थे और वहाँ के स्थायी निवासी बन गये थे।

यद्यपि वे गरीब थे तथापि सदाचारी थे। ईश्वर और धर्म में उनकी जबरदस्त श्रद्धा थी। माता नान्सी सदाचारिणी और सरल हृदय महिला थीं। यद्यपि पिता पढ़े-लिखे व्यक्ति नहीं थे तथापि माता नान्सी पढ़ी-लिखी थी और धर्म में गहरी निष्ठा रखती थी। अब्राहम लिंकन उनका दूसरा बच्चा था। गरीब होने के कारण उसे अपने माता से बहुत-सा रुपया पैसा तो अवश्य नहीं मिल सका किन्तु सदाचरण की जो विरासत इस समय उसे मिली वह रुपये पैसे से इतनी अधिक मूल्यवान सिद्ध हुई कि आगे चलकर उसने अमेरिका का सारा वैभव ही नहीं अपरिमित प्रतिष्ठा और सुयश भी उसके चरणों में ला गिराया।

बालक अब्राहम को बचपन में खेल-कूद का बड़ा शौक था। किंतु माता-पिता उसे पढ़ने-लिखने में भी आगे बढ़ाने का प्रयत्न करते रहते थे। प्रति वर्ष बसन्त ऋतु में एक मास्टर साहब उनके गाँव में आते थे और स्कूल चलाते थे। जब वे स्कूल का काम प्रारंभ करते तो माता नान्सी कहती—"एब, तू जितना हो सके पढ़ और कुछ होशियार बन। तभी तेरी इज्जत बढ़ेगी।" अब्राहम स्कूल जाता और पढ़ने लिखने में मन भी लगाता किन्तु उसका यह क्रम अधिक दिनों तक नहीं चल पाया। उसकी माँ बीमार हो गई और उसे अपना अधिकांश समय उसी के पास गुजारना पड़ा। फिर भी माता के आदेशानुसार उसे पढ़-लिख कर बड़ा आदमी बनने की इच्छा हमेशा बनी रहती थी।

जब एब सात वर्ष का था तो माता-पिता ने इस स्थान को छोड़कर इन्डियाना जाने का निर्णय कर लिया। यहाँ न कोई अच्छा काम-धन्धा था न ठीक तरह गुजर-बसर ही हो पाती थी। पिता ने एक डोंगी तैयार की और उसमें सारा असबाब रखकर यात्रा प्रारंभ की। यह यात्रा बड़ी कष्टप्रद रही। कई बार ऐसे मौके आये जब नाव डूबते डूबते बची। अब नाव छोड़कर बैलगाड़ी की यात्रा प्रारंभ की गई।

कोई बना बनाया मार्ग तो था नहीं उन्हें उस बीहड़ वन में से ही अपना रास्ता बनाना था। अतः कई स्थान पर पिता पेड़ों को काटकर रास्ता तैयार करते तब कहीं गाड़ी आगे बढ़ पाती। यह यात्रा लगभग १८ मील तक चलती रही तब कहीं वे अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच सके। यहाँ पहुँचने पर भी उनकी कठिनाई का अन्त नहीं हुआ। उन्हें कड़ा श्रम करके अपना मकान तैयार करना पड़ा तब कहीं चैन मिल सकी। मकान के काम में अब्राहम ने भी अपने पिता की सहायता की। उसने इस आठ वर्ष की ही आयु में कुल्हाड़ी पकड़ ली थी जो आगे तीस वर्ष की आयु तक उसके हाथ में रही। जीवन का इतना लम्बा हिस्सा उसे अपने कठोर शरीर श्रम के बल पर ही करना पड़ा।

इन्डियाना का प्रदेश नया-नया बस रहा था अतः वहाँ शिक्षित आदमी तो क्यों जाते। आने वालों में मजदूर किसान और इसी प्रकार के अन्य लोग होते थे। ये सब प्रायः अशिक्षित होते थे और किसी-न-किसी दुराचार के शिकार भी रहते थे। इनमें अधिकांश लोग शराबी थे अतः अब्राहम भी उनके सम्पर्क में रहकर शराब पीने लग गया। जब माँ को यह बात मालूम हुई तो उसे बड़ा दुःख हुआ। उसने अब्राहम को शराब की बुराइयाँ समझाई। अब्राहम ने शीघ्र ही अपनी भूल स्वीकार की और उसी समय प्रतिज्ञा की कि वह आगे कभी शराब न पियेगा। उसने इस प्रतिज्ञा को जीवन भर निभाया।

इन्डियाना आये अभी एक ही वर्ष हुआ था कि माँ बीमार रहने लगी। छोटा-सा घर था। उसमें न खिड़की थी न दरवाजे, काली धरती पर कोई फर्श भी नहीं था। बीमार नान्सी भयंकर बुखार में जलती हुई उसी धरती पर बाँस के या अनाज के भुट्टों के बिस्तर पर सिकुड़ी हुई पड़ी रहती। अब्राहम अपना अधिकांश समय उसी की सेवा में बिताता। जब कभी वह पानी मांगती तभी पानी लेकर दौड़ आता। किन्तु माँ

की तबियत बिगड़ती ही जा रही थी। एक दिन उसने अब्राहम का हाथ पकड़कर कहा—"एब, अपनी बहन और पिता का ख्याल रखना। बेटा, अच्छा क्या है उसे ईश्वर अच्छी तरह जानता है। इसलिए उस पर श्रद्धा रखना वह जो कुछ करता है अच्छे के लिए करता है। श्रेष्ठ कल्याणकारी मार्ग को उसे अच्छी तरह पहिचान है।" वह इतना कह कर मौन हो गई और फिर कभी न बोली।

अब्राहम इस समय ९ वर्ष का था। उसकी आँखों से आँसू बह निकले। वह जी भरकर रोया लेकिन नियति के आगे किसका बस चलता है? उसने पिता को अन्तिम किया में मदद दी और रो-रोकर बहुत-से दिन बिताये। उसे इस बात का बड़ा रंज रहा कि माँ की कब्र पर बाइबिल के सूत्र पढ़कर सुनानेवाला कोई धर्मगुरु भी उन्हें नहीं मिल पाया।

माँ के शोक में पूरा एक वर्ष बीत गया। पिता इस वेदना को अधिक समय तक न सह सके। वे दोनों बच्चों को इण्डियाना में छोड़ कर केनतकी चले गये तथा विवाह करके अब्राहम की नई माँ ले आए। सौतेली माँ जैसे ही घर में आई उसके स्वर में वात्सल्य और ममता भरी मधुरता थी। वह दोनों बच्चों को देखते ही बोली—"शायद तू है सारा लेकिन...क्यों? अरे तू?...तू तो अब्राहम ही होगा।" अब्राहम ने आँखें उठाकर उसे देखा। उसे स्पष्टतः दिखाई दिया कि सौतेली माँ की आँखों में दुलार छलक आया है। वह मुसकाई और उसकी मुस्कराहट अब्राहम के चेहरे को भी प्रसन्न किये बिना न रही। बस फिर तो आगे आनेवाले दिनों में भी उन दोनों का प्रेम सम्बन्ध ऐसा ही बना रहा।

जाड़े के दिनों में वहाँ पाठशाला खुली और अब्राहम की शिक्षा फिर से प्रारंभ हुई। ग्राम के सब बालक नई पाठशाला में उत्साह से भर्ती हुए। किन्तु बाद में कुछ बालक पढ़ना छोड़ने लगे, कुछ पढ़ने में

दिलचस्पी ही कम लेने लगे। किन्तु अब्राहम ने इस काल में इतनी रुचि ली कि दिनभर हिज्जे ही रटता रहता। जहाँ कहीं जाता लिखने-पढ़ने का ही काम करता रहता। एकदिन उसने अपने लिए नोटबुक तैयार की और उसमें लिखा—

अब्राहम लिंकन
उसका हाथ और कलम—
वह एक दिन अच्छा बनेगा ''लेकिन
ईश्वर जाने कब ?

अब वह १८ वर्ष का हो गया। पिता उससे दिन भर मजदूरी करवाता था किन्तु ज्योंही वह कुदाली-फावड़ा रखता अपनी किताबें संभाल लेता था। पढ़ना जैसे उसका सबसे प्रिय काम बन गया था। पिता उसके इस पुस्तक-प्रेम पर कभी-कभी चिढ़ पड़ते थे किन्तु माँ उस पर कभी नहीं चिढ़ती थी। वह अक्सर अब्राहम को हँसी-मजाक की कहानियाँ पढ़कर सुनाने के लिए कहती और उसमें बड़ी दिलचस्पी लेती थी। जब कहानी में कोई मजाक की बातें आती अब्राहम के साथ ठहाका लगाकर हँसती थी।

एक दिन पड़ौसी क्राफर्ड के पास अब्राहम ने एक पुस्तक देखी। उसके मन में आया कि इसे पढ़ डाले। अतः उसने क्राफर्ड से उसे माँगी। क्राफर्ड ने उसे यह कहकर देदी कि संभाल कर रखना। इस पुस्तक में जार्ज वाशिंग-टन का जीवन-चरित्र भी था। पुस्तक प्राप्त करते ही उसे पढ़ डालने के लिए वह उतावला होगया। उसने उसे प्रारंभ किया किन्तु बीच में कहीं भी रुकना असह्य प्रतीत होने लगा। वह शाम को आग के पास बैठा-बैठा पढ़ता रहा। जब काफी देर हो गई तो पिता ने आग बुझादी और उसे सोने का आदेश दिया। अब्राहम चौपाल में ही सो गया। उसने किताब अपने सिरहाने रख ली ताकि जैसे ही उजेला हो वह फिर किताब पढ़ना

प्रारम्भ कर दे। किन्तु दूसरे दिन प्रातःकाल ज्योंही उसकी नींद खुली किताब को देखते ही उसका हृदय मसोस उठा। किताब भीग गई थी और उससे पानी झर झर टपक रहा था। अब क्या किया जाय! क्राफर्ड को क्या उत्तर दे?

आखिर उसने भारीपन से सारी बात क्राफर्ड को कही। वह बोला—"अब्राहम तू है इसलिए छोड़ देता हूँ। कोई बात नहीं। तीन दिन मेरे खेत का अनाज काट देना फिर किताब तेरी अपनी ही हो जायगी।"

सिर्फ तीन दिन। अब्राहम को विश्वास न हुआ। उसने दुबारा पूछा और जब वही उत्तर मिला तो उसकी खुशी का ठिकाना न रहा। उसने तीन दिन अनाज काटने का काम कर दिया और पुस्तक अपनी करली। उसने जार्ज वाशिंगटन का जीवन चरित्र बार-बार पढ़ा। हर बार वह नई चेतना से उछल पड़ता। उसने मन-ही-मन कहा बड़ा होने पर मैं यह अनाज काटने आदि का काम नही करूँगा। एक बार क्राफर्ड की पत्नी के सामने भी यही बात कह दी। वह बोली—"तो फिर तू क्या करना चाहता है?" "राष्ट्रपति बनूंगा।" उसने उत्तर दिया।

इन दिनों वह प्रतिदिन खेतों में मजदूरी पर काम किया करता था। कुछ दिनों वह ओहियो नदी के पास एक किसान के साथ रहा। वह उसे प्रतिमास पाँच डालर दिया करता था। यहाँ काम करते-करते उसने एक छोटी-सी डोंगी बनाई। एक दिन अपनी इस डोंगी से नदी मे खड़े हुए स्टीम बोट मे उसने कुछ सामान पहुँचाया। इस काम के लिए उसे तुरन्त एक डालर मिल गया। अब तक उसे जो भी मजदूरी मिली थी उसमें यह सबसे ज्यादा थी। अतः वह सोचने लगा कि नाव का ही काम क्यों न किया जाय। उससे तो वह आगे बढ़कर मिसीसीपी नदी मे पहुँच सकता है और वहाँ से न्यूआर्लियन्स। प्रतिदिन कितनी ही नौकाओं से न्यूआर्लियन्स को कई तरह की चीजें भेजी जाती थीं। उसने

यह बात अपने पिता से कही किन्तु पिता ने यह कह कर मना कर दिया कि तू अभी इस काम के लिए छोटा है। इस समय वह १७ वर्ष का था।

एक दिन नदी में नाव चलाते हुए उसे कुछ आदमियों ने पकड़ लिया और मजिस्ट्रेट की अदालत में पेश किया। उनका आरोप था कि उसे मुसाफिरों को नाव में ले जाने का कोई अधिकार नहीं है। मजिस्ट्रेट ने उससे पूछा—"क्या तुम अपनी नाव को नदी के मध्य भाग से आगे ले गये थे?" अब्राहम ने उत्तर दिया—"नहीं!" बस मजिस्ट्रेट ने तत्काल फैसला सुना दिया—"इसमें कोई गैर कानूनी बात नहीं है।"

इस घटना ने उसके मन में कानून की जानकारी प्राप्त करने की जिज्ञासा पैदा कर दी। जब वह कानून की किताबें पढ़ने लगा। इस सिलसिले में उसने संयुक्त राज्य संघ का संविधान और उसके कानून पढ़ डाले। इन पुस्तकों को पढ़ते-पढ़ते उसे स्वतन्त्रता के घोषणा पत्र को पढ़ने का भी अवसर मिल गया। इसमें एक स्थान पर लिखा था—"मनुष्य मात्र समान है।" यह वाक्य कई दिनों तक उसके मस्तिष्क में गूँजता रहा।

इसके कुछ ही समय बाद एण्ड्रयुजेक्सन संयुक्तराज्य संघ के प्रेसीडेन्ट चुने गए। यह सन् १८२८ की बात थी। अब्राहम ने उसे देखा। वह एक सीधा-साधा गरीब किसान ही तो था। जो देश के सर्वोच्च आसन पर आरूढ़ हो गया था। इस घटना ने उसके दिमाग में यह बात अच्छी तरह बैठा दी कि वह भी इतना ही ऊँचा स्थान क्यों नहीं प्राप्त कर सकता।

इन्हीं दिनों वहाँ के एक किसान जेन्ट्री ने उसे अपने पुत्र एलन के साथ कुछ चीजें बेचने के लिए न्यूआर्लियन्स भेजा। यात्रा काफी लम्बी थी। दोनों मित्र बड़े उत्साह के साथ यात्रा करते-करते न्यूआर्लियन्स पहुँचे। वहाँ एक बात ने अब्राहम का ध्यान बहुत आकर्षित किया।

उसने जगह-जगह दीवारों पर गुलाम बेचने और खरीदने के विज्ञापन देखे। उनमें लिखा रहता था 'अच्छे और होशियार हबशी पुरुष या स्त्रियाँ खेतों में या घर में काम करने के लिए बेचते हैं। नकद रकम के साथ मिलिए।' उसने बाजार में गुलामों की कतारें देखी। ये खरीददारों को दिखाने के लिए खड़ी की जाती थीं। बेचारों गुलामों की बिक्री उसी तरह होती थी जैसे बैल घोड़ों की। अब्राहम इस सबको देखकर कह उठा—ओह कितना बीभित्स दृश्य है किन्तु जब उसे मालूम हुआ कि यह कानूनी है तो उस कानून को बदलवाने की तीव्र इच्छा उसके मन में पैदा हो गई।

इन्डियाना में रहते-रहते १४ वर्ष हो गए थे। अब इस प्रदेश को छोड़कर इलीनोस में जाने का निश्चय किया। गाड़ियों में माल असबाब लादकर वे उस प्रदेश में पहुँचे किन्तु यहाँ तो जाड़े में सात-सात फीट तक मोटी बर्फ की तह जम जाती थी अतः एक ही वर्ष यहाँ रहकर वे दक्षिण की ओर गुडनेस्टप्रेअरी चले गये। यह स्थान १०० मील दूर था। यहाँ अब्राहम ने नया घर बसाने में पिता की पूरी-पूरी मदद की। मकान तैयार हो जाने पर एक दिन उसने कुल्हाड़ी रख दी और इस विशाल विश्व में अपना मार्ग ढूंढने के लिए घर छोड़ दिया। मां ने उसे बड़ी स्नेह भीनी विदाई दी।

वह न्यूसालेम ग्राम में पहुँचा। ग्राम में चुनाव का काम जोर-शोर से चल रहा था। उसे शीघ्र ही क्लर्क का काम मिल गया। अपने सद्-व्यवहार से उसने सब लोगों को अपनी ओर आकर्षित कर लिया। वहाँ कुछ दिन काम करके वह वहीं के एक दूकानदार के यहाँ क्लर्क होगया। थोड़े ही समय में उसकी ईमानदारी की छाप आसपास के लोगों पर पड़ गई। एक दिन उसने भूल से एक स्त्री को कुछ कम चाय तोल दी। बाद में जब पता चला तो उसने उतनी चाय की पुड़िया बनाई

और चार मील दूर जहाँ वह स्त्री रहती थी उसे देने गया। उसके इस व्यवहार से दूकान की प्रतिष्ठा काफी बढ़ गई।

इन्हीं दिनों एक घटना घटी। ब्लेकहाक नामक एक हबशी ने मिसीसिपी नदी में होकर इस प्रदेश में अपने आदमी भेजे और उपद्रव प्रारंभ किया। उसे निकालने के लिए गवर्नर ने जनता की मदद माँगी। बहुत से युवक तैयार हो गये। अब्राहम भी उनमें था। इन सैनिकों को अपना कप्तान चुनने के लिए कहा गया ये सब अब्राहम को जानते थे अतः ९० प्रतिशत व्यक्तियों ने उसे मत दिया। इस चुनाव से उसे बड़ी प्रसन्नता हुई। आगे चलकर उसने कई बार कहा कि इस चुनाव से मुझे जितनी प्रसन्नता हुई उतनी किसी अन्य चुनाव से नहीं हुई। कप्तान चुने जाने पर उसने अनेक बार ब्लेक के साथियों से टक्कर ली और उसे पकड़ लिया।

इस टक्कर के बाद वह गाँव में आ गया। वहाँ कांग्रेस के चुनाव प्रारंभ हुए। लोगों ने उसी को खड़ा किया। इस प्रदेश से तो उसे काफी मत मिले किन्तु कुछ दूर के ग्रामों में रहने वाले उसे जानते नहीं थे अतः वह जीत न सका।

सन् १८३३ में वह न्यूसालेम का पोस्ट मास्टर बन गया। वह कोई बड़ी नौकरी नहीं थी पर उसमें खूब अखबार पढ़ने को मिलते थे। यह काम वह बड़ी ईमानदारी के साथ करता रहा। कहते हैं कि जब उसने नौकरी छोड़ी और चार्ज दिया तब सिल्क बढ़ गई। उसने वे बढ़े हुए पैसे एक पुड़िया में बाँधकर टोपी में रख लिये। कुछ वर्षों बाद किसी अधिकारी ने हिसाब की वह भूल पकड़ी और अब्राहम से वह पैसे माँगे। उसने उसी समय टोपी में से निकालकर दे दिये।

दूसरे चुनाव में उसे विधान सभा के लिए फिर खड़ा किया और इस बार वह अच्छी तरह जीत गया। अब उसने कानून का अध्ययन

प्रारंभ किया और शीघ्र ही वकालत की परीक्षा पास करली। वह वकील बन गया और इस काम को भी उतनी ही ईमानदारी और मेहनत के साथ करने लगा। वकालत करते हुए उसने कभी कोई झूठा मुकदमा नहीं लिया और कभी उन लोगों का साथ नहीं दिया जो गरीबों का शोषण करते हैं। यह उसका स्वभाव ही बन गया था कि जिस क्षण उसे मालूम हो जाता कि उसका पक्ष सत्य नहीं है उसी क्षण पैरवी करना छोड़ देता। अपनी इस सत्यप्रियता, ईमानदारी और परिश्रम-प्रियता के बल पर वह दूसरी बार राज सभा का सदस्य चुना गया। सन् १८४२ में उसका विवाह मेरी टाड नामक महिला से हुआ। उन दोनों में बड़ा गहरा प्रेम था और वह अन्त तक बना रहा।

वकालत के दिनों चक्कर लगाना अब्राहम लिंकन का बड़ा प्रिय कार्य था। वह अक्सर ग्रामों में निकल जाता और वहाँ लोगों से खुल कर बातचीत करता। उसके आने की खबर बिजली की तरह ग्राम के एक कोने से दूसरे कोने तक फैल जाती और लोग झुण्ड-के-झुण्ड बना कर उसके आस-पास इकट्ठे हो जाते। गांव के लोग उसे पूरे दिल से चाहते थे। वह सबका प्यारा बन गया था।

वसन्त ऋतु में एक दिन जब वह गांव में चक्कर लगा रहा था, तो उसे मालूम हुआ कि प्रसिद्ध सिनेटर डालस इधर आ रहा है। वह उस कानून का समर्थन करने आ रहा था जो अभी सन् १८५४ में कांग्रेस ने गुलामी या दास प्रथा के सम्बन्ध में पास किया था। अब्राहम लिंकन को इस प्रथा से स्वाभाविक चिढ़ थी। वह इसे अमानवीय मानता था। अतः उसने इसका विरोध करने का निश्चय कर लिया। डालस के पास मोटर रेल आदि के साधन थे और वह एक दिन में पांच सात सभाओं में भाषण देता था। अब्राहम लिंकन के पास ऐसे कोई साधन तो थे नहीं अतः जो भी साधन मिल जाता उसीसे वह

गांवों में पहुँच जाता और अपने विचार लोगों को समझाता। अनेक बार दोनों प्रतिद्वन्द्वी एक ही मञ्च पर इकट्ठे हो जाते और दोनों अपने अपने मत का समर्थन करते। डाल्स के भाषण में जहाँ वाक्चातुर्य और राजनीतिज्ञता होती थी वहाँ अब्राहम लिंकन के भाषण में प्रामाणिकता, सच्चाई और मार्मिकता। वह यही बताता था कि वह प्रथा कितनी अमानवीय है तथा उससे किस प्रकार संयुक्तराष्ट्र संघ क्षत विक्षत होता जा रहा है। डाल्स जहाँ अपने भाषण में इस बात का ख्याल रखता था कि उसे अगले चुनाव में अध्यक्ष पद के लिए खड़ा होना है और उसके लिए अनुकूल वातावरण बने वहाँ अब्राहम लिंकन सही-सही बात कहता था। जनहित की भावना से उसका भाषण ओत-प्रोत रहता था। अतः उसका भाषण अधिक प्रभावशाली होता था।

अब तो देश भर में लिंकन डाल्स विवाद चर्चा का विषय बन गया। सारे अखबारों में इस विषय की चर्चा खुलकर होने लगी। आगे चलकर इस विषय ने इतना महत्व प्राप्त कर लिया कि पुरानी ह्विग पार्टी के स्थान पर नई प्रजातन्त्रपार्टी की स्थापना हुई जिसका उद्देश्य ही गुलामी की प्रथा को रोकना बन गया। सन् १८६० में इसी प्रजातन्त्र पर्टी ने राष्ट्राध्यक्ष के पद के लिए अब्राहम लिंकन को खड़ा किया और ४ नवम्बर के दिन वह चुनाव में विजयी घोषित कर दिया गया। उसका प्रतिद्वन्द्वी डाल्स बुरी तरह हार गया।

वह जीत तो गया लेकिन दक्षिण के राज्य दास प्रथा के पक्ष में थे। वे उसे धमकी भरे पत्र भेजने लगे। दक्षिण के राज्यों ने यह धमकी ही दे दी कि यदि चार मार्च तक शपथ विधि पूरी करने के लिए जीवित रहा तो वे राष्ट्र संघ से अलग हो जायंगे। नवम्बर से मार्च तक के ये दिन उसके जीवन मे बड़े कटु अनुभवों से भरे हुए थे।

१८६१ का फरवरी मास आया। लिंकन को जो भय था वहीं

सामने आगया । उसके वाशिंगटन पहुँचने के पहिले ही संयुक्तराष्ट्र संघ के टुकड़े-टुकड़े हो गए। दक्षिण के केरोलिना तथा अन्य छः राष्ट्रों ने केन्द्र से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया । उन्होंने नया राष्ट्र घोषित कर एक अलग अध्यक्ष नियुक्त किया ।

जब वह वाशिंगटन पहुँचा तो उसकी हत्या की धमकियाँ इतनी ज्यादा बढ़ गई थीं कि सड़कों पर चारों ओर रक्षक टुकड़ियाँ तैनात करनी पड़ी । उसके निवास स्थान की एक-एक खिड़की पर सैनिकों का पहरा बैठाना पड़ा और शपथ विधि के समय तो उसके मंच के आसपास ५० सशस्त्र सैनिक तैनात करने पड़े थे । किन्तु लिंकन निर्भय था । जब पहिले ही दिन वह अपने आफिस में पहुँचा तो उसे समाचार मिला कि दक्षिणी केरोलिना के किनारे संयुक्तराष्ट्र संघ समटर किले में स्थित विशाल अन्न वितरण केन्द्र से सम्बन्ध तोड़ दिया गया है और अब केवल १ महीने के लिए ही अन्न बाकी रह गया है । १२ अप्रैल को किले पर गोले बरसाये गए । दूसरे दिन सवेरे ही सैनिकों ने उस पर अधिकार कर लिया । लिंकन को विवश होकर लड़ाई प्रारम्भ करनी पड़ी । उसने ७५ हजार सैनिकों को राष्ट्र की रक्षा के लिए बुलाया ।

अब समाचार मिला कि चार और राष्ट्र संघ से प्रथक हो गए हैं । बड़ी बिकट स्थिति थी । दिन पर दिन बीतते जा रहे थे लेकिन वे सैनिक नहीं आ रहे थे । उपद्रव इतने बढ़े कि वाशिंगटन का बाहरी दुनिया से सम्बन्ध ही तोड़ दिया गया । तार काट दिये गए थे और रेलवे लाइनें तोड़ दी गई थीं । वह बिलकुल अकेला और अरक्षित-सा हो गया किन्तु लिंकन अडिग रहा । अब कुछ ऐसा हुआ कि डालस के विचारों में जबरदस्त अन्तर आ गया वह लिंकन का मित्र बन गया। युद्ध शुरू हुआ। कभी कहीं हार होती कहीं जीत, एक बड़े युद्ध में उत्तर

वालों की हार हो गई। डालस ने राय दी कि हमें सैनिक शक्ति बढ़ानी चाहिए। सैनिक शक्ति बढ़ाई गई। अब छः लाख ४० हजार सैनिक लड़ाई के लिए तैयार किये गये। जनन्तर लड़ाई होने लगी।

युद्ध क्षेत्र में संयुक्तराष्ट्र संघ की दो सेनाएँ थीं। एक पोटोमेक नदी के पूर्व में दूसरी मिसीसिपी पर पश्चिमी विभाग में। कभी-कभी पश्चिमी विभाग से कोई शुभ समाचार आने लगा। ६ फरवरी १८६२ को सबसे पहिले वहीं से विजय का समाचार आया। उस युद्ध में ग्रान्ट नामक सेनापति ने विजय प्राप्त की थी। पोटोमेक की सेना की ओर से शुभ समाचारों का एक भी शब्द नहीं आ रहा था। प्रति सप्ताह वहाँ सैनिक, अन्न सामग्री, घोड़े, गोला बारूद आदि भेजे जाते थे फिर भी उनकी माँग बनी ही रहती थी। मई महीने में भी वे रिचमण्ड से दस मील दूर थे और अब आगे बढ़ना उनके लिए असम्भव हो गया था। महीने पर महीने बीतने लगे और कोई आशा-जनक समाचार नहीं मिल रहा था।

किन्तु यह सब उपद्रव दास प्रथा को लेकर ही हो रहा था। अतः उसने १ जनवरी सन् १८६३ के दिन दास प्रथा के अन्त की घोषणा कर दी। घोषणा में कहा गया था कि—"आज से सब संस्थाओं के गुलाम मुक्त हो गए। उन पर मालिकों की कुछ भी सत्ता नहीं रहेगी। व अन्य लोगों की भांति स्वतन्त्र रहेंगे। जो व्यक्ति उनकी स्वतन्त्रता में बाधा डालेगा वह सरकार का शत्रु माना जायगा और उसे नियमा-नुसार दण्ड दिया जायगा।" इस घोषणा से उत्तर के राज्यों में चेतना की एक नई लहर दौड़ गई ४० लाख गुलाम मुक्त हो गए। लिंकन ने अपना संकल्प पूरा करके सन्तोष की साँस ली।

युद्ध चल रहा था। सन् १८६३ के जुलाई महीने में गेटिसबर्ग नगर के पास एक बहुत बड़ी लड़ाई हुई। उत्तरी भूमि पर लड़ी गई

लडाइयों में यह सबसे बड़ी थी । इसमें लगभग चालीस हजार सैनिक मारे गए थे । चार महीने बाद १९ नवम्बर को वह क्षेत्र राष्ट्रीय कब्रस्तान के रूप में अर्पित कर दिया गया। एक दिन लिंकन एक स्पेशल रेलगाड़ी से वहाँ गए । युद्ध-क्षेत्र में एक विशाल मंच तैयार किया गया था जिस पर राष्ट्रीय ध्वज फहरा रहा था । सबसे पहिले उस समय के बहुत अच्छे वक्ता श्री एवरेट ने २ घण्टे तक बड़ा विद्वतापूर्ण भाषण दिया, उसके बाद लिंकन ने भाषण दिया। उनका भाषण यद्यपि छोटा था तथापि जब तक अंग्रेजी भाषा बनी रहेगी तब तक अंग्रेजी भाषा-भाषियों में वे नवीन चेतना और नए प्राण फूँकते रहेंगे । उस भाषण का एक अंश प्रारम्भ में दिया गया है ।

दक्षिणी राज्यों के साथ लड़ाई चल रही थी । यद्यपि लिंकन नहीं चाहता था कि लड़ाई लड़ी जाय तथापि उसके बिना काम ही नहीं चलता था। प्रतिदिन उसके पास धमकी भरे पत्र आते थे। किन्तु उनकी चिन्ता किए बिनाअपना काम करता जा रहा था। वह कहता था, 'मनुष्य एक ही बार मर सकता है। लेकिन सतत मृत्यु के भय से आच्छन्न जीवन तो हर घड़ी की मृत्यु है।' इतने खतरे के होते हुए भी वह घायलों को देखने जाता था, उनसे अस्पताल में मिलता था और उन्हें देखकर सहानुभूति और दया से अभिभूत हो जाता था। वह कहा करता था कि––'युद्ध विश्राम के बाद मैं अधिक दिनों तक जी नहीं सकूँगा।'

नवम्बर १८६४ में फिर राष्ट्राध्यक्ष का चुनाव हुआ। वह फिर इस पद के लिए खड़ा हुआ। निन्दकों और विरोधियों ने उस पर काफी कीचड़ उछाला । किसी ने चोर कहा, किसी ने राक्षस । किसी ने अत्याचारी कहा, किसी ने धूर्त । लेकिन प्रजा के हृदय सिंहासन पर उसने जो आसन जमा रखा था उसे कोई भी डिगा न सका । वह

फिर राष्ट्राध्यक्ष चुना गया और ५ मार्च १८६५ के दिन उसने दूसरी बार अध्यक्ष पद की शपथ ग्रहण की । अब युद्ध का अन्त भी निकट दिखाई दे रहा था । ९ अप्रैल के दिन समाचार मिला कि विरोधियों ने आत्म-समर्पण कर दिया है । युद्ध समाप्त हो गया और राष्ट्रसंघ की सुरक्षा. शान्ति एवं समृद्धि पर दास प्रथा के प्रश्न ने जो काली छाया फैलाई थी वह समाप्त हो गई ।

लिंकन के जीवन का एक-महत्वपूर्ण कार्य समाप्त हो गया था । अब उसने सन्तोष की साँस ली ही थी कि १८६५ की चौदहवीं अप्रैल का भयानक दिन आ गया । प्रतिदिन की तरह उसने सारे कार्य किये । सन्ध्या समय श्रीमती लिंकन के साथ वह एक प्रहसन देखने गया । प्रहसन का शीर्षक था—अमेरिकन कजिन (अमेरिकन भाई चारा) । फोर्ड के नाट्यगृह में पहुँचकर उसने नाटक देखा । जब नाटक के दो अंक समाप्त हो गये और तीसरे अंक का पर्दा उठा तो अचानक गोली चली और अमेरिका-पिता, संरक्षक और एक महान देशभक्त हमेशा के लिए सो गया । जीते जी तो उसने मानवता के लिए बहुत कुछ किया ही किन्तु मानव मात्र की स्वतन्त्रता के लिए जिस प्रकार अपने प्राण समर्पित किए उसने सिद्ध कर दिया कि इस प्रकार का बलिदान कभी व्यर्थ नहीं जाता । हम देख रहे हैं अमेरिका ही नहीं इस सारे विश्व में जनता की सरकार जनता के लिए जनता के द्वारा कार्य कर रही है और वह निरन्तर विकास की दिशा में अग्रसर है । अब कोई भी शक्ति उसे समाप्त नहीं कर सकेगी ।

कार्ल मार्क्स

: ७ :
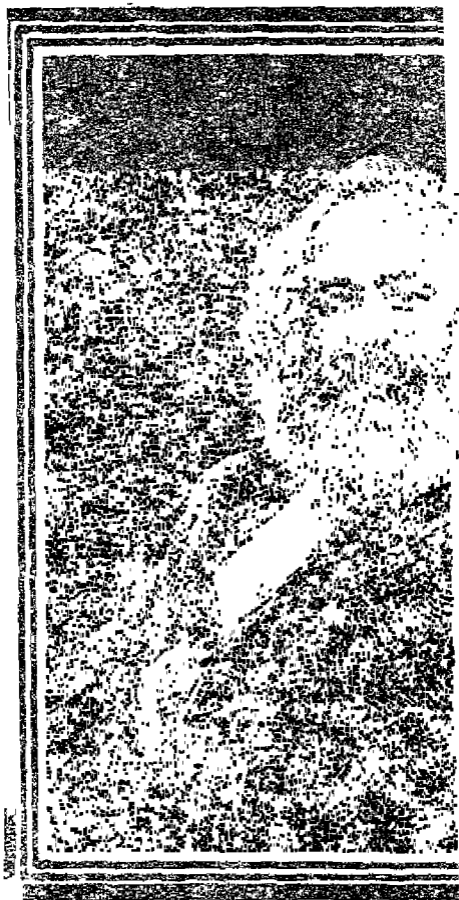
कार्ल मार्क्स

"मार्क्स हम सबसे महान था। वह दूर तक देखता था, अधिक देखता था और तुरन्त देखता था।"

—एंगेल्स

मार्क्स का नाम कौन नहीं जानता ? आज प्रत्येक पढ़ा-लिखा व्यक्ति जानता है कि मार्क्स एक युग दृष्टा ऋषि था। वह शोषितों और पीड़ितों का मसीहा था। शोषण एवं उत्पीड़न को सदैव के लिए समाप्त करने के उद्देश्य से उसने जीवन भर लड़ाई लड़ी। वह पहिला व्यक्ति था जिसने सबसे पहिले यह कहा कि प्रत्येक व्यक्ति को रोटी मिलना चाहिए। उसी ने सबसे पहिले यह सोचा कि प्रत्येक व्यक्ति को किस प्रकार रोटी मिल सकती है। उसके तरीकों से मतभेद हो सकता है किन्तु इस बात से कोई इन्कार नहीं कर सकता है कि वह मानवता का सच्चा उपासक था। वह मानवता की उपासना करते हुए जिया और उसी की उपासना करता हुआ मरा।

कार्ल हेनरिख मार्क्स का जन्म ५ मई १८१८ को जर्मनी के ट्रायर नामक स्थान में हुआ। उसके पिता हर्सखेल मार्क्स ट्रायर के प्रसिद्ध वकील थे। मूलतः उनका परिवार यहूदी धर्म का अनुयायी था किन्तु पिता ने यहूदी धर्म छोड़कर ईसाई धर्म अपना लिया था और हर्सखेल से बदल कर हेनरिख नाम रख लिया था। माँ हालेण्ड की एक यहूदी महिला थी। उसका नाम था—हेनरियेटा। कार्ल मार्क्स अपने माता-पिता की दूसरी सन्तान थे।

कार्लमार्क्स की प्रारंभिक शिक्षा ट्रायर में हुई। बचपन में वे एक

होनहार छात्र प्रतीत होते थे। छोटी उम्र में ही वे प्राचीन काव्यों के कठिन तम अंशों को समझ जाते थे। लेटिन भाषा में तो शीघ्र ही उनकी अच्छी गति हो गई थी तथा अपने लेखों में सुन्दर विचारों का संकलन वे बड़ी खूबी से करने लग गये थे। वे अध्ययनशील थे तथा खेल-कूद में काफी उत्साह से शामिल होते थे।

प्रारंभिक शिक्षा प्राप्त करके सन् १८३५ में वे बोन विश्व-विद्यालय में प्रविष्ट हुए। यहाँ एक वर्ष तक रहकर उन्होंने कानून का अध्ययन किया। इसके बाद सन् १८३६ में वे बर्लिन विश्वविद्यालय में प्रविष्ट हुए। इन्हीं दिनों वे जेनी नामक एक सुन्दर लड़की के प्रेम-सूत्र में बँध गये। जेनी के साथ वे बचपन से ही खेले-कूदे थे। वह उनकी बड़ी बहिन सूफी की संगिनी थी। जेनी एक कुलीन परिवार की कन्या थी और उसके पिता एक बड़े अफसर थे। वह सुन्दर तो थी ही किंतु उसने बाद के जीवन में यह भी सिद्ध कर दिया कि वह गुणों में भी महान थी। कार्लमार्क्स का जीवन आगे चलकर जिन कष्टों में से गुजरा उनमें जेनी का व्यक्तित्व निर्धूप दीप-शिखा की तरह जलता रहा। यौवन में जिस चेहरे से सौंदर्य की किरणें फूटती थी संकट के दिनों में उसी से शान्ति की चाँदनी भी छिटकती रहती थी। कार्लमार्क्स इसीलिए कार्लमार्क्स बन सके कि उन्हें जेनी जैसी जीवन संगिनी मिली थी।

बर्लिन में मार्क्स ने अपना पूरा ध्यान अध्ययन में केन्द्रित कर दिया। यहाँ तक कि उन्होंने लोगों से मिलना-जुलना बहुत कम कर दिया। इन दिनों वे अर्थशास्त्र, दर्शन और इतिहास में गहरी दिलचस्पी लेने लगे थे। उन्हें सत्यज्ञान की धुन सवार हो गई थी और उनका बहुत-सा समय इसी काम में बीतता था। इन दिनों वे हीगल के सिद्धान्तों से बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने बहुत अधिक परिश्रम किया जिससे वे बीमार हो गये और स्वास्थ्य सुधार के लिये जब कुछ दिन देहात में

जाकर रहे तो स्वास्थ्य सुधारा। इधर १८३८ में ही पिता की मृत्यु हो गई। पिता की मृत्यु से उन्हें बड़ा आघात लगा। वे जीवन भर पिता के प्रेम को नहीं भूले।

सन् १८४१ में उन्हें पी० एच-डी० की उपाधि प्राप्त हो गई। यह उपाधि उन्हें जेना विश्वविद्यालय से मिली थी। उनकी थीसिस का विषय था—'डिमोक्रिटस और इपिक्यूरस के प्राकृतिक दर्शन में अन्तर' थीसिस की भूमिका में उन्होंने लिखा था—"जब तक दर्शन के विश्व विजयी और अजेय हृदय में रक्त की एक भी बूंद प्रवाहित है तब तक हम इपिक्यूरस के इन शब्दों में अपने शत्रुओं को ललकारते रहेंगे—'नास्तिक वह नहीं है जो जन समूह के भगवान को नहीं मानता बल्कि नास्तिक वह है जो भगवान के बारे में जन समूह के विचारों को सिर झुकाकर मान लेता है।' इस भूमिका की समाप्ति उन्न प्रोमेथ्यूज के उन शब्दों में की थी जिन्हें उन्होंने भगवान के दूत को सम्बोधित करके कहा था—"मैं तुम्हें साफ कह दूँ मुझे सभी भगवानों से घृणा है। तुम्हारी घृणित दासता की अपेक्षा याद रखो मैं अपने वर्तमान असमय की अवस्था में ही रहना ज्यादा पसन्द करूँगा।"

डाक्टर की उपाधि प्राप्त कर लेने पर मार्क्स ने इधर-उधर प्रोफेसर की नौकरी प्राप्त करने का प्रयत्न किया किन्तु उसमें सफलता न मिल सकी। उन्होंने पत्रकारिता का काम अपना लिया और राजनैतिक आन्दोलन में कूद पड़े। इस आंदोलन ने उनके जीवन की दिशा ही बदल दी। वे 'राइनिशजिटुङ्ग' नामक पत्र के प्रमुख लेखक बन गये। प्रारम्भ में यह पत्र सरकार विरोधी नहीं था। कोलन के पूँजीवादियों ने उसकी स्थापना की थी तथा सरकार की कृपा उसे प्राप्त थी, किन्तु सम्पादक हेगलवादी थे। अतः उन्होंने हेगलवादियों के लेख छापना प्रारम्भ किया।

कार्ल मार्क्स उसके प्रमुख लेखक बन गए। फिर तो सन् १८४२ में शीघ्र ही वे इसके सम्पादक भी बन गए। यद्यपि उनके लेखों का प्रभाव पहिले ही सरकार और जनता पर पड़ चुका था तथापि उन्होंने राइन प्रदेश की धारा सभा की कार्यवाही की आलोचना की, उससे तो चारो ओर हलचल ही मच गई। अब यह पत्र पूर्णतः सरकार विरोधी बन गया। सरकार ने उस पर सेन्सर लगाया लेकिन कोई परिणाम नही निकला। प्रान्तीय शासन सभा के प्रेसीडेन्ट ने अब दोहरा सेन्सर लगाया किन्तु मार्क्स और उनके साथियों की कलम चलती ही रही। वे बुद्धिमानी पूर्वक सेन्सर की आँखों में धूल झोंक कर जनता तक अपने विचार पहुँचाते रहे। परन्तु यह सब ज्यादा समय तक नहीं चल सका। १८४३ में सरकार ने इस पत्र को बन्द कर दिया।

अब जर्मनी से तो कोई पत्र निकाला नही जा सकता था अतः तय हुआ कि एक नया पत्र पेरिस से निकाला जाय। इन्हीं दिनों सन् १८४३ में १६ जून को उनका विवाह हुआ। विवाह के बाद वे कुछ ही दिनों जर्मनी में रहे कि नया पत्र निकालने के लिए पेरिस जाना पड़ा। इस प्रकार विवाह के बाद ही उन्हें वनवास भी हो गया। इस नये पत्र को निकालने में रुज नामक एक मित्र ने उनकी बड़ी मदद की। उसने उन्हें उसके सम्पादन के लिए ५०० थेलर प्रतिमास देने का वचन दिया था।

जर्मनी में ही मार्क्स ने हीगल के बाद प्रूधो कॉवेट, विटलीग आदि विद्वानों के समाजवादी विचारों का अध्ययन प्रारम्भ कर दिया था। उन्हें इन लोगों के विचारों में कल्पना की रंगीनी तो दिखाई दी थी किन्तु सामाजिक कल्याण की सम्भावना अधिक नहीं प्रतीत होती थी। इधर जब वे पेरिस में अपना नया पत्र 'दोइत्से फ्रान्सोसिशे ब्यूखेर' निकाल रहे थे तब ऐंगेल्स के सम्पर्क में आये। उन्होंने इन दिनो

कुछ पुस्तकें भी लिखीं और बाद में एंगेल्स के साथ 'पवित्र परिवार' एवं 'ब्रूनोबावर और उसके सहयोगियों का विरोध' नामक पुस्तकें लिखीं, जिनमें उस समय के जर्मन आदर्शवादी दर्शन की व्यंग्यात्मक समालोचना की गई थी। इस पुस्तक के द्वारा उन्होंने हीगल-वादियों को तार्किक विवादों से ऊपर उठाकर जनसेवा के पवित्र कार्य में लग जाने की प्रेरणा दी।

पेरिस के निवास काल में वे वोरवार्ट नामक एक स्थानीय पत्र में भी लिखते रहते थे। धीरे-धीरे इस पत्र पर जर्मनी के इन निर्वासित दिमाग पेशों का प्रभाव बढ़ गया। इस पत्र में हेन, रज, मार्क्स आदि सभी कुछ-न-कुछ लिखते रहते थे। ये लोग केवल 'बर्लिन के ईसाई गधों' पर ही फब्तियाँ नहीं कसते थे अपितु 'बर्लिन महल के नये सिक-न्दर' की छीछालेदार भी करते रहते थे। इस पर प्रूशिया की सरकार बिगड़ी और उसने फ्रान्स की सरकार को लिखा कि वह इन बदमाशों को सजा दे। फ्रान्स सरकार ने 'वोरवार्ट' पत्र के सम्पादक पर मुकदमा चलाया और उसे हलकी-सी सजा दी। किन्तु इससे आलोचना कम नहीं हुई। हेन की ऐसी ११ व्यंग कविताएँ प्रकाशित हुईं जिन्होंने सरकार को तिलमिला दिया। उसने फिर फ्रान्स सरकार को लिखा। फ्रान्स सरकार हेन पर हाथ उठाना नहीं चाहती थी क्योंकि वह फ्रान्स का राष्ट्रकवि माना जाता था और फ्रान्स ही नहीं यूरोप भर में उनकी प्रसिद्धि थी। फ्रान्स सरकार ने उसे तो छोड़ दिया किन्तु मार्क्स, रज, बेकुनिन आदि को देश निकाले की आज्ञा सुना दी। अब मार्क्स ने फ्रान्स छोड़ दिया और वे बेलजियम की राजधानी ब्रुसेल्स आगये।

ब्रूसेल्स की भूमि पर ज्योंही उन्होंने पैर रखा त्योंही उन्हें राज-भवन बुलाया गया और उनसे यह शर्तनामा लिखवाया गया कि वे बेल्जियम की सरकार के विरुद्ध कुछ भी नहीं लिखेंगे। मार्क्स को

बेल्जियम के भीतरी मामलों में कोई दिलचस्पी नहीं थी अतः उन्होंने वह शर्तनामा लिख दिया। यहाँ उन्होंने 'दर्शन-शास्त्र की निर्धनता' नामक पुस्तक लिखी। जब यह लेखन कार्य चल रहा था तब उन्होंने सामाजिक क्षेत्र में भी काम करना प्रारम्भ कर दिया था। सन् १८३६ मे पेरिस में 'लीग आफ जस्ट' नामक जिस संस्था की स्थापना हुई थी उससे प्रेरणा प्राप्त करके यूरोप के कुछ अन्य देशों में भी वैसी ही संस्थाएँ बन गई थीं। मार्क्स इसी संस्था में सम्मिलित हो गये और कार्य करने लगे। प्रारम्भ में यह संस्था केवल षड्यन्त्रकारियों की सभा मात्र थी किन्तु अब सन् १८४७ में उसका नाम 'कम्यूनिस्ट लीग' रख दिया गया। इस संस्था ने कम्यूनिस्ट आन्दोलन के प्रचार का काम कर दिया। धीरे-धीरे यह सभा यूरोप के सभी देशों में काम करने लग गई और उसने एक अन्तर्राष्ट्रीय सभा का रूप ले लिया। इस संस्था का उद्देश्य था—पूंजीवाद का उच्छेद करना, सर्वहारा की सरकार कायम करना और एक ऐसे नये समाज का निर्माण करना जिसमें न व्यक्तिगत सम्पति हो न वर्ग हो।

सन् १८४७ में कम्यूनिस्ट लीग का दूसरा सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन ने लीग की काया पलट कर दी। उसने तय किया कि कम्यूनिस्ट पार्टी का एक घोषणा पत्र तैयार करके प्रकाशित किया जाय ताकि संसार के लोगों को हमारे विचारों की जानकारी प्राप्त हो सके तथा हमारे अपने साथियों को भी उससे मार्गदर्शन मिल सके। इस घोषणा पत्र को तैयार करने का काम मार्क्स और ऐंगेल्स को सौंपा गया। इन लोगों ने बड़े परिश्रम से इसे तैयार किया। इसके प्रकाशित होते ही चारों ओर हलचल मच गई। बहुत से लोगों ने उसकी कड़ी आलोचना की और बहुत सी सरकारों ने उसे जप्त भी किया। किन्तु वह दिन प्रति दिन लोक प्रियता प्राप्त करता गया

और आज वह संसार के श्रेष्ठतम साहित्य में गिना जाता है। किवनेट ने इसके सम्बन्ध में कहा था—"यदि ये लोग दूसरी रचनाएँ न भी लिखते तो संसार में इसी एक कृति से अमर हो जाते।"

सन् १८४८ के फरवरी मास में यूरोप में क्रान्ति की आग भड़कती हुई दिखाई देने लगी। उसका सबसे पहिला दौर हुआ फ्रान्स मे। फ्रान्स में पुराने शासन का तख्ता उलट गया। अब वहाँ एक नई सरकार की स्थापना हुई। क्रान्ति की ये लपटें बेल्जियम में भी आई। सरकार घबराई और उसने मार्क्स को देश निकाले की आज्ञा सुना दी।

पेरिस पहुँचकर उन्होंने देखा कि वहाँ की हालत अच्छी नहीं है। गिर्जाघर तो बुरा है ही मिनिस्ट्री भी बुरी है। वे एक महीना ही रहे होंगे कि होममिनिस्टर ने उन्हें पेरिस छोड़कर पोर्विहान के जिले में रहने का आदेश दिया। यह फ्रान्स का सबसे ज्यादा अस्वास्थ्य कर जिला था। उन्होंने वहाँ जाने के बजाय हालेण्ड जाना ज्यादा पसन्द किया और वे लन्दन चले गये।

लन्दनवास मार्क्स के जीवन का सबसे महत्वपूर्ण समय है उन्होंने ब्रिटिश म्यूजियम में अर्थशास्त्र का बड़ा गहरा अध्ययन किया। यहाँ उन्होंने अपने पत्र को प्रकाशित करने का प्रयत्न किया किन्तु जब उसमें कठिनाइयाँ अधिक दिखाई दी तो उन्होंने उसे छोड़ दिया। लन्दन में उन्होंने १०वर्ष का समय अर्थशास्त्र के गहन अध्ययन में व्यतीत किया। वे पुस्तकों के बीच में घिरे हुए घण्टों बैठे रहते। सर्वहारा वर्ग का वह मसीहा उसी की तरह अभावों में रहकर जीवन बिता रहा था। लन्दन में कई बार उसे कठिन परिस्थितियों का सामना करना पड़ा किन्तु उसने अपनी व्यक्तिगत बातों को कभी लिख या बोलकर प्रकट नहीं किया। इन दिनों मार्क्स को दूसरा पुत्र प्राप्त हुआ। यह बालक सदैव

बीमार रहा और दूसरे ही वर्ष चल बसा। इतना ही नहीं इसी जमाने में उन्हें मकान मालिक ने इसलिए घर से हटा दिया कि वे समय पर किराया नहीं दे सके थे। कुछ दिनों उन्हें इधर-उधर भटकना पड़ा तब कहीं एक गली में दो कोठरियाँ मिल सकीं। जिनमें रहकर उन्होंने छ साल निकाले। आगे भी इसी प्रकार की कठिनाइयों में से उन्हें गुजरना पड़ा किन्तु वे सदैव अपने सिद्धान्तों पर अटल रहे और उन्होंने कभी भी पूँजीपतियों के सामने अपना सिर नहीं झुकाया।

पूँजीवादियों से लड़ते-लड़ते मार्क्स के जीवन में ऐसा भी समय आया जब न उनके पास कोट रहा न जूता। एक बार तो उनके पास इतने भी पैसे न रहे कि लिखने के लिए कागज भी खरीद सके। अखबार थोड़ा बहुत पैसा अवश्य दे देते थे किन्तु कभी-कभी उनमें लेख भेजने के लिए डाक के टिकिट तक खरीदना असंभव हो जाता था। दूकानदारों से तो उनकी हमेशा चख-चख चलती रहती थी। मकान मालिक किराया न दे सकने के कारण हमेशा मकान से निकाल देने की धमकी दिया करता था। बड़े कर्ज तो कौन देता छोटे कर्ज भी इतने कड़े सूद पर मिलते थे कि आमदनी का अच्छा खासा हिस्सा उसी में समाप्त हो जाता था। घर की हालत इतनी खराब हो जाती थी कि श्रीमती जेनी जैसी सहिष्णु महिला भी धैर्य छोड़ देती थी तथा अपनी और अपनी सन्तान की मृत्यु की कामना करने लगती थी। इन प्रश्नों को लेकर जेनी से भी उनकी कहा सुनी हो जाती थी और वे परेशान होकर अपने मित्रों को यह लिख देते थे कि जनसेवा का व्रत लेने वाले व्यक्ति के लिए विवाह करने से बढ़कर कोई दूसरी बेवकूफी नहीं हो सकती। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उनके जैसा विद्वान चाहता तो अच्छा से अच्छा पद प्राप्त कर सकता था किन्तु उन्होंने तो पद निश्चय कर लिया था कि—"इन विपदाओं और संकटों के बीच मुझे अपने लक्ष की ओर

बढते जाना है । पूंजीवादी समाज मुझे रुपया कमाने की मशीन बना छोड़े यह मैं नहीं होने दूंगा ।" सारे मानव समाज में आर्थिक समता लाने के लिए कठिन तपस्या करने वाला यह तपस्वी पूंजीवादी व्यवस्था का गुलाम कैसे हो सकता था ?

इन आर्थिक कठिनाइयों का मुकाबला करते हुए भी मार्क्स का अध्ययन और चिन्तन चल ही रहा था । इस अध्ययन के परिणाम स्वरूप १८५९ में उनका प्रसिद्ध ग्रंथ अर्थशास्त्र की समालोचना भाग १ प्रकाशित हुआ । इसके बाद वे बीमार हो गये किन्तु ज्योंही कुछ ठीक हुए फिर अपने काम में जुट गए । बड़े कठिन परिश्रम के बाद सन् १८६७ में उनकी मुख्य कृति 'केपिटल' प्रकाशित हुई । इस ग्रंथ में वर्तमान समाज व्यवस्था और उसके आर्थिक ढांचे की आलोचना करते हुए समाजवादी कल्पनाओं के आधार की व्याख्या की गई है । कम्यूनिस्ट मेनीफेस्टो यदि समाजवाद की गीता है तो केपिटल उसका महाभारत । उसमें पूंजीवादी समाज के उद्भव और विकास की कहानी बड़े विद्वता पूर्ण ढंग से कही गई है। इस पुस्तक को तैयार करने में मार्क्स को बहुत श्रम करना पड़ा था । यह उनके छः वर्ष और छः सप्ताह के कठिन परिश्रम का परिणाम था। उन्होंने न कभी सोचा न कहा कि 'केपिटल' कोई धर्मग्रंथ है । अथवा गीता, कुरान या बाइबिल की तरह उसमें भी ऐसे चिरन्तन सत्यों का वर्णन किया है जिन्हें कभी बदला नहीं जा सकेगा । उन्होंने तो उसके द्वारा पथ प्रदर्शन मात्र ही किया था । किन्तु जैसे-जैसे समय बीतता गया यद्यपि वह उनके जैसी अकाव्यता तो प्राप्त नहीं कर सकी तथापि उसकी पवित्रता अवश्य प्राप्त करती गई और आज शायद ही संसार का कोई ऐसा कोना हो जहाँ यह पुस्तक किसी-न-किसी रूप में नहीं पाई जाती हो ।

केपिटल के प्रकाशन ने मजदूर आन्दोलन को बड़ी गति दी । पूंजी-

वाद का दायरा राष्ट्रीय होता है। अतः सर्वहारा वर्ग भी अबतक अपने को राष्ट्रीय दायरे तक ही सीमित किये हुए था। किन्तु जैसे जैसे पूंजी-वाद और सर्वहारा वर्ग का संघर्ष शुरू हुआ त्यों-त्यों यह स्पष्ट हो गया कि यदि सर्वहारा को विजय प्राप्त करना है तो राष्ट्रपिता के घेरे को अलग करना होगा। सर्वहारा की विजय तभी हो सकती है जब वह अन्तर्राष्ट्रीयता के विस्तृत क्षेत्र पर काम करना शुरू करे। मार्क्स और एंगेल्स दोनों ही अब इस नतीजे पर पहुँच चुके थे कि सर्वहारा का कल्याण उसके अन्तर्राष्ट्रीय संगठन पर ही निर्भर करता है। बस उन्होंने इस दिशा में काम करना प्रारंभ कर दिया। मार्क्स मजदूरों के ऋषि ही नहीं उनके पुरोहित भी थे। उन्होंने ब्रूसेल्स में ही यह काम प्रारंभ कर दिया था। 'मजदूर शिक्षा संघ' नामक संस्था वहाँ इसी प्रकार का अन्तर्राष्ट्रीय कार्य कर रही थी। 'कम्यूनिस्ट मेनीफेस्टो' के अन्त में भी उन्होंने कहा था—'संसार के मजदूरों एक हो जाओ।'

एकता के इस मंत्र को दुनिया के घर-घर और ग्राम-ग्राम में फूकने के लिए २८ सितंम्बर १८६४ को लन्दन के सेन्ट मार्न्टिन हाल में एक सभा की गई। इसी सभा में 'अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ' नामक संस्था का जन्म हुआ। यह संस्था इतिहास में 'फर्स्ट इन्टरनेशनल' के नाम से प्रसिद्ध है। इसकी स्थापना पर उन्होंने एंगेल्स को लिखा था— "निस्सन्देह मजदूरों में एक नवीन जागरण का श्री गणेश हो रहा है।" उन्होंने विधान बनाया और उसके कार्य को गति दी।

इन्टरनेशनल की पहिली कान्फ्रेंस लन्दन में बुलाई गई। इसमें इग्लेण्ड के मजदूर आन्दोलन की रिपोर्ट क्रीमार ने पढ़ी और फ्रान्स की फ्रीबर्ग और तोलों ने। स्वीटजरलेण्ड की रिपोर्ट डुप्ले और बेकर ने दी। अन्य व्यक्तियों ने भी अपने-अपने स्थानों की रिपोर्ट पढ़ी। बस इसके बाद तो इन्टरनेशनल की शक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती गई

और उसके अधिवेशन यूरोप के किसी न किसी देश में होते गये।

सन् १८७० में फ्रान्स और जर्मनी में युद्ध छिड़ गया। इस युद्ध मे फ्रान्स पराजित हुआ किन्तु उसकी इस पराजय का लाभ उठाकर मजदूरों ने पेरिस पर कब्जा कर लिया और वहाँ अपना राज्य कायम कर लिया। सन् १८७१ में २६ मार्च के दिन कम्यून का चुनाव हुआ और फ्रान्स में मजदूरों का राज्य स्थापित हुआ। सर्वहारा वर्ग खुशी से फूल उठा किंतु शायद अभी मजदूरों के राज्य को स्थायित्व प्राप्त होने में लगभग पचास वर्ष की देर थी। जर्मनी की संगीनों के जोर पर फ्रान्स का तथाकथित जनतन्त्र पेरिस कम्यून को ध्वंस करने में समर्थ होगया। फिर भी इस तीन महीने के समय में ही पेरिस कम्यून ने अपने को दुनिया के इतिहास में स्थायी बना लिया।

इन्टरनेशनल की छटी कांग्रेस सन् १८७३ के सितम्बर मास मे जेनेवा में होने वाली थी। ठीक इसी समय बैकुनिन के समर्थकों ने वहीं एक प्रतिद्वन्दी कांग्रेस करदी। इस कांग्रेस में अधिक देशो के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। सारे विरोधियों ने इन्टरनेशनल के विरुद्ध एक सम्मिलित मोर्चा बना लिया। मार्क्स अपने को धोखे में नहीं रख सकते थे। उन्होंने स्वीकार कर लिया कि जिनोवा की यह कांग्रेस पूर्णतः असफल रही और सलाह दी कि अब संगठन के विस्तार से हाथ खींचकर केन्द्रीय शाखा को सुसंगठित और सुसंचालित करने का प्रयत्न किया जाय। बस, यह आखिरी कांग्रेस थी।

इस इन्टरनेशनल को लेकर कुछ दिनों तक खूब वादविवाद होता रहा किन्तु बाद में वह धीरे-धीरे शान्त हो गया। बेचारा बैकुनिन थोड़े दिन बाद राजनीति से हट गया और गरीबी एवं परेशानी के बीच जुलाई १८७६ में मर गया। सन् १८७८ में मार्क्स ने इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कि क्या इन्टरनेशनल असफल रहा लिखा था—"आज

जर्मनी, स्वीटजरलेण्ड, डेन्मार्क, पोर्तुगाल, इटली, बेल्जियम, हालेण्ड और उत्तरी अमेरिका में मजदूरों की जो पार्टियाँ हैं वे राष्ट्रीय सीमाओं के अन्दर संगठित होने पर भी मजदूरों के अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का प्रतिनिधित्व करती हैं। कोई जनरल कौन्सिल उन्हें एक साथ बाँधकर नहीं रखे हुई है। किन्तु उनके कार्यों में एकात्मता है, विचारों और उद्देश्यों में एकात्मता है और वे एक दूसरे को ठोस रूप से सहायता भी पहुँचा रही है। यों देखिये तो इन्टरनेशनल मरी नहीं है बल्कि उसका कायाकल्प हुआ है। उसने सिर्फ चोला बदल दिया है और उसका यह वर्तमान रूप विकास की ऊँची मंजिल का सूचक है, जिसमें पहले की सारी प्रवृत्तियाँ उदात्त रूप में निहित हो गी है। इन्टरनेशनल का अंतिम अध्याय अभी नहीं लिखा गया है। अभी हम उसके विकास के सिलसिले में उसके कितने ही भिन्न रूपों को देखेंगे।"

इसमें कोई सन्देह नहीं कि मार्क्स की भविष्यवाणी सत्य हुई। उसकी मृत्यु के बाद फिर एंगेल्स ने इन्टरनेशनल को पुनर्जन्म दिया जो दूसरी इन्टरनेशनल के नाम से प्रसिद्ध है। इसके भी विशृंखलित हो जाने पर लेनिन ने सन् १९१८ में तीसरी इन्टरनेशनल को जन्म दिया।

इन्टरनेशनल के विघटन के बाद मार्क्स फिर अध्ययन, मनन और चिन्तन में लग गये। उन्हें केपिटल के दो भाग तैयार करने थे। वे तेजी से काम करना चाहते थे किन्तु शारीरिक बीमारियाँ उन्हें काम करने से रोक रही थीं। सन् १८७३ के जाड़े में उन्हें अनेक शारीरिक व्याधियों ने घेर लिया। सिर में चक्कर आते थे और प्रायः मूर्च्छा हो जाया करती थी। उनकी बुरी हालत देखकर एंगेल्स उन्हें मेनचेस्टर ले गये। वहाँ उनका स्वास्थ्य कुछ सुधरा भी। डाक्टर की सलाह से स्वास्थ्य सुधार के लिए वे कार्ल्सबाद सन् १८७४ में गये तथा उसके बाद भी २ वर्ष तक

जाते रहे। इसके बाद सन् १८७६ में वे तीसरी बार फिर अपनी सबसे छोटी लड़की को लेकर गये। सन् १८७७ में वे फिर कार्ल्सवाद जाने का विचार कर रहे थे किन्तु उन्हें समाचार मिला कि जर्मनी और आस्ट्रिया की सरकार उन्हें देश से निकाल देने को तैयार बैठी हैं अतः वे नहीं गये। धीरे-धीरे वे खाँसी, फेफड़ों की जलन, दमा आदि अनेक रोगों के शिकार बनते गये। फिर भी वे ठीक हो जाते किन्तु उनकी पत्नी श्रीमती जेनी इन दिनों काफी अस्वस्थ रह रही थी। उनके स्वास्थ्य को सभालने का भी वे प्रयत्न कर रहे थे। किन्तु बहुत प्रयत्न के बाद भी २ दिसम्बर १८८१ को जेनी चल बसी। अपनी जीवन सहचरी की मृत्यु से उन्हें जो आघात पहुँचा उसे सहन करना कठिन हो गया। यदि ऐंगेल्स ने न बचाया होता तो जिस समय जेनी की लाश को दफनाया जा रहा था वे भी उसकी कब्र में कूद कर आत्महत्या कर लेते। वे रुक तो गये किन्तु उनका मन जेनी के पास पहुँच गया था। आखिर सवा वर्ष बाद १४ मार्च १८८३ के दिन वे भी स्वर्ग सिधार गये।

उनकी मृत्यु पर अगाध शोक अनुभव करते हुए ऐंगेल्स ने कहा था—"हो सकता है चिकित्साशास्त्र की जादूगरी उन्हें कुछ वर्ष और जिला सकती। डाक्टरी पेशे के यश के प्रतीक स्वरूप वे अपाहिज का जीवन कुछ दिनों तक और उपयोग करते और यों अचानक न मरकर तिल-तिल कर मरते। किन्तु यह मृत्यु हमारे मार्क्स के योग्य नहीं होती। अपने सामने इतना अधूरा काम रखकर और उसे पूरा करने के लिए छटपटाते हुए किन्तु अपने को इसके लिए सर्वथा अयोग्य समझते हुए, जाने की अपेक्षा यह मृत्यु उनके लिए हजार गुनी अच्छी हुई है। इपीक्यूरियस की तरह वह भी कहा करते थे कि मृत्यु मरने वाले के लिए दुर्भाग्य की बात नहीं होती है बल्कि जीने वालों के लिए। यह महान प्रतिभावान पुरुष जीवित खण्डहर के रूप में रहे और जिन

पाखण्डियों को उसने जवानी में नाकों चने चबवाये वे मुँह बनाते फिरे– नहीं, इसकी अपेक्षा तो हजार गुना, हाँ हजार गुना अच्छा यह हुआ कि हम उसे कन्धे पर लेकर उस जगह पहुँचाने जा रहे हैं जहाँ उसकी प्यारी पत्नी अनन्त निद्रा में सोई हुई है ।"

पत्नी की ही तरह उनकी भी मृत्यु पर कोई संस्कार नहीं किया गया । समाधि के निकट सिर्फ उनके चुने हुए दोस्त थे । मार्क्स नहीं चाहते थे कि उनका कोई स्मारक भी बनाया जाय । वस्तुतः कम्यूनिस्ट मेनीफेस्टो और केपिटल ही उनके प्रसिद्ध स्मारक थे जिन्हें उन्होंने खुद बनाया था और जिन्हें धूप, वर्षा, प्रकृति, नियति कोई बर्बाद नहीं कर सकते थे । किन्तु उनके अनन्य मित्र ऐंगेल्स से न रहा गया । उसने उस समाधि को संगमरमर से ढक दिया ।

कार्ल मार्क्स संसार के महान् विद्वानों में से थे । अत्यन्त कठिन समय में भी उन्होंने न पुस्तकें छोड़ी न अध्ययन । उनका अपना एक पुस्तकालय था जिसमें कुछ चुनी हुई पुस्तकें थीं । उनकी दृष्टि में पुस्तकें उनका अपना दिमागी औजार थी । यद्यपि उन्होंने दर्शन, अर्थशास्त्र, राजनीति जैसे शुष्क विषयों पर ही लिखा था तथापि उनमें साहित्यिक रुचि का अभाव नहीं था । जर्मन कलाकार गेटे और हेन की बहुन-सी रचनाएँ उन्हें कण्ठस्थ थी । उनकी मेधा प्रारंभ से ही बड़ी प्रबल और प्रखर थी ।

वे बड़े परिश्रमी थे । काम में तो इतने तल्लीन हो जाते थे कि उन्हें भोजन की भी सुध नहीं रहती थी । बार-बार बुलाने पर ही वे रसोईघर में जाते थे और आखरी लुकमा पेट में पहुँचने भी नहीं पाता था कि फिर काम में लग जाते थे । काम की इस धुन के कारण धीरे-धीरे उनकी भूख मर-सी गई थी और वे बहुत थोड़ा भोजन खाने लगे थे। उन्होंने अपने दिमाग की वेदी पर शरीर को बलिदान कर दिया था।

जवानी में तो वे रात-रात भर काम करते रहते थे और बाद में भी वे दो तीन बजे से पहले नहीं सोते थे।

घमण्ड तो उन्हें छू तक नहीं गया था। 'बनना' उन्हें आता नहीं था। उन्होंने कभी अपने को छिपाने की कोशिश नहीं की। जो बात दिल में आती थी। उसे साफ-साफ कह देते थे। उनसे बढ़कर सच्चे आदमी बहुत कम पैदा हुए हैं। सत्य के तो वे अवतार ही थे। झूठे लोगों को वे कोढ़ियों से भी बदतर समझते थे। ढोंग से उन्हें स्वाभाविक घृणा थी। सरलपन उनका जीवन था। उसमें वे बच्चों से भी आगे प्रतीत होते थे।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि मार्क्स अपने समय के सबसे बड़े विचारक थे। उन्होंने बहुत गंभीर अध्ययन, मनन और चिन्तन के बाद संसार को जो सिद्धान्त दिये वे अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। उनके प्रयत्नों से आज सर्वहारा वर्ग को भी मानव अधिकार प्राप्त हुए हैं तथा वे भी समता और स्वतन्त्रता के राजमार्ग पर चलने के योग्य बने हैं। उनकी मृत्यु से सर्वहारा वर्ग की जो क्षति हुई है उसका पूरा होना कठिन है।

आचार्य जगदीशचन्द्र बसु

: ८ :
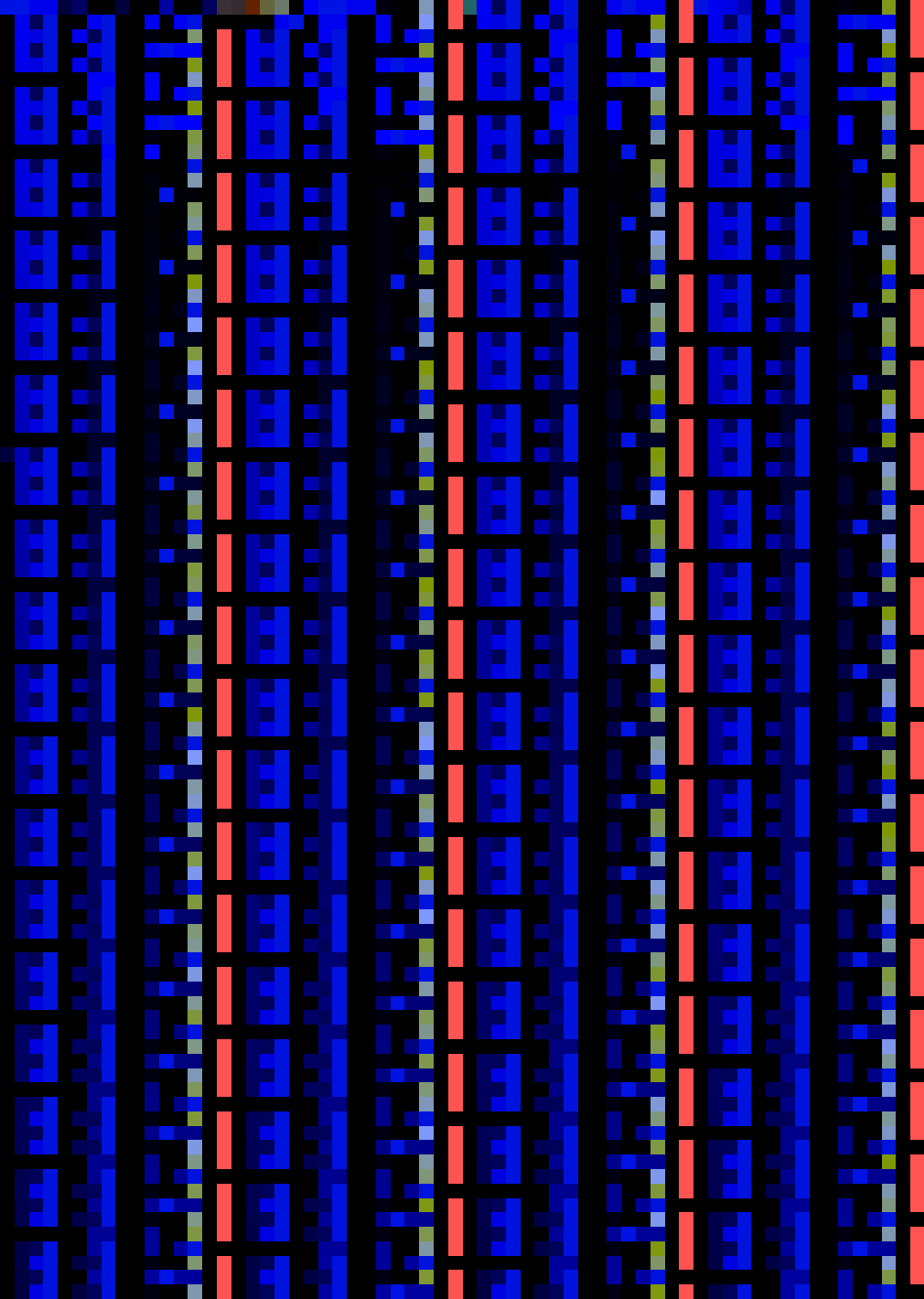
आचार्य जगदीशचन्द्र वसु

विज्ञान ने अपनी शोधों के द्वार हर क्षेत्र में हमारे ज्ञान की अभि-वृद्धि की है। उसने अपने प्रकाश से जीवन और जगत के हर क्षेत्र को जगमगाया है। उसी के प्रकाश में आज हम वस्तुओं का सहीस्वरूप देख सकने और उनसे समुचित लाभ उठा सकने में समर्थ हुए है। यदि विज्ञान का प्रकाश न फैला होता तो हम अन्धे व्यक्ति की तरह इधर-उधर भटकते रहकर ठोकरें खाते रहते और कुछ हाथ में आ जाता उसी को सत्य समझ कर भ्रम में पड़े रहते। वनस्पति जगत से तो हम पूरी तरह परिचित हैं। हम सुबह-सुबह ही पेड़-पौधों से फूल तोड़ कर गुलदस्ते सजाते हैं, खेत और बगीचों से फल फूल व पत्तियाँ लाकर भिन्न-भिन्न प्रकार की सब्जी बनाते हैं तथा जिस अनाज का उपयोग हम सुबह शाम भोजन में करते हैं वह भी तो वनस्पति जगत का ही उपहार है। वनस्पति वायु को शुद्ध बनाती है, बादलों को आक-र्षित कर वर्षा करवाती है और वही हमारे भोजन की सब चीजें उप-लब्ध करती है। सारांश यह कि वह हमारा जीवन है, प्राण है। लेकिन इतनी महत्वपूर्ण वस्तु के बारे में हमें कितना ज्ञान है? हम यह जानते ही नहीं कि उनमें भी हमारी ही तरह चेतनता है। हमारी ही तरह पेड़-पौधे भी सांस लेते हैं, भोजन करते और पानी पीते हैं, उसे पचाते है और सन्तान पैदा करते हैं। क्या आपने कभी सोचा है कि हाथ लगाते ही लज्जावती (छुईमुई) की पत्तियाँ क्यों सिकुड़ जाती हैं, नीम क्यों रोता है और विष के प्रभाव से वे क्यों मर जाते हैं? आइये

वनस्पति जगत के इस रहस्य को दुनिया के सामने प्रकट करने वाले हमारे देश के ही एक बहुत बड़े विज्ञानाचार्य श्री जगदीशचन्द्र बसु की जीवन कहानी आगे की पंक्तियों में पढ़ेंगे।

आचार्य जगदीशचन्द्र बसु को जन्म देने का श्रेय हमारे देश भारत को ही प्राप्त हुआ है। जिस प्रकार गेलीलियो, न्यूटन, एडीसन, जेम्स-वाट आदि वैज्ञानिकों ने भौतिक जगत के रहस्य प्रगट किये, उसी प्रकार आचार्य बसु ने वनस्पति जगत के रहस्य प्रकट किये। उन्होंने वेदान्त दर्शन के उस सिद्धान्त को सत्य सिद्ध कर दिया कि संसार के सभी जड़ और चैतन्य पदार्थों में एक ही चैतन्य शक्ति व्याप्त है। 'सर्वं खल्विद ब्रह्म, नेह नान्यस्तिकिंचन' जैसे ऋषि प्रणीत वाक्यों को ५० वर्ष पहिले भले ही कोई विश्वास न करता हो, लेकिन आज उससे कोई इन्कार नहीं कर सकता। आचार्य बसु ने यह सिद्ध कर दिया कि जिन्हें जड़ मानते हैं उन पदार्थों पर भी भौतिक परिवर्तनों का वैसा ही प्रभाव पड़ता है जैसा चेतन कहे जानेवाले प्राणियों पर। उन्होंने बताया कि वनस्पति वर्ग जड़ और चेतन पदार्थों की शृङ्खला के बीच की एक कड़ी है। चेतन्यशीलता का गुण लगभग सभी पौधों में विभिन्न मात्रा में पाया जाता है। हमारी तरह उनमें भी संवेदन-शीलता होती है। ठंड से वे भी सिकुड़ते हैं, नशैली चीजों के प्रभाव से उन पर भी नशा चढ़ता है, सुई चुभने से उनको भी पीड़ा होती है और विष देने से उनकी मृत्यु हो जाती है।

आचार्य बसु का जन्म ढाका जिले के विक्रमपुर नामक गांव मे ३० नवम्बर सन् १८५८ में हुआ था। उनके पिता श्री भगवानचन्द्र बसु बंगाल के उच्च और कुलीन परिवार में पैदा हुए थे। वे फरीदपुर मे डिप्टी कलेक्टर थे। अतः उनका बचपन फरीदपुर में ही बीता। भग-वानचन्द्र बसु एक सच्चरित्र उदार और नियम निष्ठ व्यक्ति थे।

उद्योग-धन्धों में उनकी बड़ी दिलचस्पी थी और उद्योग-धन्धे चलाने में उन्होंने अपना बहुत-सा धन लगा दिया था। स्वयं शिक्षित संस्कृत और विद्वान होने के कारण उनके मन में शिक्षा के प्रति काफी रुचि थी। अपने चरित्र और सदाचरण से बालक जगदीशचन्द्र को एक ओर उन्होंने घर में तथा दूसरी ओर अच्छे स्कूल और कालेज में भेजकर बाहर अच्छी शिक्षा देने का प्रयत्न किया। कुछ बड़े होने पर सबसे पहिले वे अपने गांव की ही पाठशाला में भेजे गये। इस पाठशाला के अधिकांश बालक गांव के उन किसान और मजदूरों के ही बालक थे जो कड़ा परिश्रम करके खेत और बागबगीचों को हरा-भरा बनाते है, नदियों और तालाबों से मछली पकड़ते हैं तथा प्रकृति की गोद मे खेलते-खेलते ही अपना सारा जीवन बिताते हैं। इन बालकों के सम्पर्क में रहकर, इनके साथ खेत, खलिहान और नदी, तालाबों की सैर करके जैसे जगदीशचन्द्र ने भी प्रकृति के साथ एक रूप होना, उसके आनन्द में डूब जाना सीख गये। श्री बसु ने इस पाठशाला के सम्बन्ध मे अपने संस्मरण बताते हुए लिखा है—"बाल्यावस्था में मैं जिस ग्रामीण पाठशाला में भेजा गया था उसके महत्व को मैं आज अनुभव करता हूँ। वहाँ मुझे अपनी मातृभाषा को सीखने का अवसर मिला, अपने ढंग से सोचने-विचारने का मौका मिला तथा अपने ही साहित्य के द्वारा अपनी संस्कृति और परम्परा की विरासत प्राप्त करने का सुयोग मिला। यहीं मैं अपने देशवासियों के साथ एकता और आत्मीयता का अनुभव कर सका और अपने को बड़ा और ऊँचा समझने की उस बुराई से बच गया जिसमें अंग्रेजी शिक्षा पानेवाले बहुत से लोग प्रायः फँस जाते हैं।"

जब वे अपनी पाठशाला से साथियों के साथ घर लौटते तो माँ बड़े प्यार से प्रतीक्षा करती हुई मिलती माँ यद्यपि पुराने विचारों

की स्त्री थी तथापि जगदीशचन्द्र के सभी साथियों को चाहे वे अस्पृश्य हों चाहे सवर्ण समान प्यार से अपने पास बैठाती थी और पाठशाला की बातें पूछने के बाद कुछ न कुछ खिलाकर ही सन्तुष्ट होती थी।

जगदीशचन्द्र पढ़ने लिखने में कभी पीछे नहीं रहे। एक तो उनकी बुद्धि ही तीव्र थी दूसरे वे परिश्रम करने में भी हिचकते नहीं थे। गांव के स्कूल की पढ़ाई समाप्त करके वे कलकत्ता के सेन्ट जेवियर कॉलेज में भर्ती हुए। यहीं से उन्होंने हाईस्कूल और बी० ए० की परीक्षाएँ पास की। कॉलेज में उन्होंने जिन विषयों का अध्ययन किया उनमें विज्ञान भी एक था और विज्ञान के आचार्य पादरी लाफो का उनपर काफी प्रभाव पड़ा था। परन्तु विज्ञान के अध्ययन को चालू रखने के स्थान पर वे इंग्लैण्ड जाकर सिविल सर्विस की परीक्षा पास करना ही ज्यादा अच्छा समझते थे। सिविल सर्विस की परीक्षा में सम्मिलित होने की बात जब उन्होंने अपने पिता से कही तो एक स्वयं योग्य शासक होते हुए भी उन्होंने इस विचार को पसन्द नहीं किया। इंग्लैण्ड जाने का विरोध उन्होंने नहीं किया। लेकिन उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि वे किसी विषय के अच्छे विद्वान बनने का प्रयत्न करें आचार्य बसु ने इसे स्वीकार कर लिया और वे इंग्लैण्ड के लिए रवाना हो गये। इंग्लैण्ड जाने के व्यय का प्रबन्ध करने के लिए माँ ने खुशी-खुशी अपने बहुत से गहने बेच दिये।

इंग्लैण्ड पहुँच कर वे लन्दन विश्वविद्यालय में भर्ती हो गये और डाक्टरी का अध्ययन करने लगे। विज्ञान की प्रारंभिक परीक्षा उन्होंने बिना किसी कठिनाई के पास कर ली। लेकिन थोड़े समय बाद ही वे मलेरिया ज्वर से पीड़ित रहने लगे और बुखार इतने लम्बे अर्से तक चलता रहा कि वे काफी पिछड़ गये। डाक्टरों ने राय दी कि उन्हें पढना लिखना छोड़ देना चाहिए। उनकी राय मानकर उन्होंने डाक्टरी

छोड दी और केम्ब्रिज विश्वविद्यालय में विज्ञान का अध्ययन करने चले गये। यहीं केम्ब्रिज के क्राइस्ट कॉलेज से सन् १८८४ में उन्होंने बी० ए० की परीक्षा पास की। इस परीक्षा में विज्ञान में इतने अच्छे अंक मिले थे कि उन्हें 'नेशनल साइन्स स्कालरशिप' नामक छात्रवृत्ति प्राप्त हुई। आगामी वर्ष वे लन्दन यूनीवर्सिटी में भर्ती हुए और वहाँ से बी० एस-सी० की डिग्री प्राप्त की। लन्दन में रहते हुए वे वहाँ के अच्छे-अच्छे वैज्ञानिकों के सम्पर्क में आये और उनसे बहुत-सी प्रेरणा प्राप्त की।

शिक्षा समाप्त करके सन् १८८५ में वे कलकत्ता लौटे। वे इंग्लैण्ड से वहाँ के एक अर्थशास्त्री प्रोफेसर फासेट का लार्डरिपन के नाम पत्र ले आये थे। लार्डरिपन उन दिनों भारत के वाइसराय थे। वाइसराय की सिफारिश पर उन्हें कलकत्ता के प्रेसीडेन्सी कॉलेज में फिजिक्स के प्रोफेसर की जगह मिल गई। उन दिनों शिक्षा विभाग का यह नियम था कि हिन्दुस्तानी प्रोफेसरों को अंग्रेज प्रोफेसरों की अपेक्षा एक तिहाई वेतन कम दिया जाय। उस पर भी आचार्य वसु की नियुक्ति अस्थायी थी। अतः उन्हें उसका भी आधा ही वेतन दिया गया। यह भेद नीति तो थी ही सरासर अन्याय भी था। उन्होंने इसका विरोध करने का निश्चय किया और लगातार ३ वर्ष तक अपने वेतन का चेक लौटाते रहे। इस विरोध के परिणाम स्वरूप उन्हें बड़ी आर्थिक कठिनाई में से गुजरना पड़ा लेकिन उन्होंने धीरज के साथ सब कुछ सह लिया। तीन ही वर्ष में सरकारी कर्मचारियों को अपनी भूल सुधारने के लिए विवश होना पडा और उन्हें प्रारम्भ से अब तक का पूरा वेतन दे दिया। साथ ही उनकी नियुक्ति भी स्थायी कर दी गई।

प्रेसीडेन्सी कॉलेज में नियुक्ति के लगभग एक वर्ष बाद उनका विवाह हुआ। वेतन तो वे लौटा देते थे। प्रारम्भिक दो वर्षों तक उन्हें

बड़ी कठिनाई से घर का खर्च चलाना पड़ा । कलकत्ता में जब उन्हें कोई सस्ता मकान नहीं मिल सका तो नदी के पार चन्द्रनगर में उन्होंने वहाँ एक मकान लिया। कॉलेज जाने के लिए दोनों पति-पत्नी नाव से इस किनारे तक आते और उनकी पत्नी श्रीमती अबला बसु उसे वापस खेकर ले जाती । इसी प्रकार सन्ध्या समय श्रीमती बसु इस किनारे आकर उनकी प्रतीक्षा करतीं और जब वे आ जाते तो दोनों नाव में घर जाते । इस प्रकार उन्हें काफी कष्ट सहना पड़ा लेकिन धीरज के साथ उन्होंने सब कुछ सह लिया। जब वेतन सम्बन्धी समस्या हल हो गई और पूरा वेतन मिलने लगा तब कहीं उन्होंने कलकत्ता में मकान लिया।

जब उन्होंने प्रेसीडेन्सी कॉलेज में अपना काम प्रारम्भ किया तब वहाँ नाममात्र की ही प्रयोगशाला थी । इधर उनकी अपनी आर्थिक स्थिति भी अच्छी नहीं थी। फिर भी उन्होंने अपनी अन्वेषण सम्बन्धी प्रवृत्ति को कुण्ठित नहीं होने दिया। धीरे-धीरे अपने घर पर ही एक छोटी-सी प्रयोगशाला बनाकर अन्वेषण कार्य प्रारम्भ कर दिया। इधर तीन चार वर्ष के बाद कॉलेज के अधिकारियों ने भी प्रयोगशाला के महत्व और आवश्यकता को अनुभव किया तथा उसके लिए अच्छी धन राशि स्वीकार की।

वैज्ञानिक का सबसे बड़ा गुण है धीरज । आचार्य बसु में वह काफी अच्छी मात्रा में विद्यमान था । प्रयोगों के साथ उन्होंने वैज्ञानिक विषयों पर शोधपूर्ण निबन्ध लिखने प्रारम्भ किए । थोड़े ही समय में उनके निबन्ध वैज्ञानिकों के आदर का विषय बन गए और लन्दन की रायल सोसायटी ने उन्हें अपने मुखपत्र में स्थान देना प्रारम्भ कर दिया। वैज्ञानिक जगत में इन विद्वतापूर्ण निबन्धों की बड़ी चर्चा होने लगी। लोग आचार्य बसु के विचारों को पढ़ने के लिए लाला-

यित रहने लगे। शीघ्र ही लन्दन विश्वविद्यालय का ध्यान इस ओर गया और उसने उन्हें 'डाक्टर ऑफ साइन्स' की उपाधि से विभूषित किया।

प्रारम्भ में फोटोग्राफी, संगीत आदि के रिकार्ड तैयार करने में उन्होंने काफी दिलचस्पी ली और जर्मन वैज्ञानिक हर्टज् के विद्युत चुम्बकीय प्रयोग का भी अध्ययन किया। सन् १८९३ में अपने ३५ वें जन्म दिवस पर उन्होंने विद्युत चुम्बकीय प्रयोगों के सम्बन्ध में बड़ी गम्भीरता से शोध करना प्रारम्भ किया। इन शोधों के परिणाम-स्वरूप उन्हें कई नई बातें मालूम हुई। इसी सिलसिले में उन्होंने बेतार के सम्वाद भेजने का यन्त्र भी बनाया। यदि वे इस दिशा में और कार्य करते रहते तो बेतार के तार का आविष्कार करने का श्रेय आज मार्कोनी को दिया जा रहा है वह उन्हें ही मिलता।

अब अपने अनवरत प्रयत्न और कठिन परिश्रम से उन्होंने एक ऐसा यन्त्र बना लिया जिससे वृक्षों के सुखानुभव की ठीक-ठीक जानकारी मिलने लगी। यूरोप में जब इस शोध की खबर पहुँची तो बहुत से वैज्ञानिकों ने उस पर विश्वास ही नहीं किया। साधारणतः उस समय सभी वैज्ञानिक मानते थे कि वृक्ष तो जड़ होते हैं, उनमें चेतनता कहाँ जो वे सुख दुःख का अनुभव कर सकें। लेकिन उनके इस यन्त्र ने सिद्ध कर दिया कि प्रिय और अप्रिय बातों का जिस प्रकार मनुष्य के हृदय पर प्रभाव पड़ता है ठीक उसी प्रकार पेड़ पौधों पर भी पड़ता है। जिस प्रकार जहर मनुष्य जीवन के लिए घातक है उसी प्रकार वृक्षों के लिए भी है। इस यन्त्र का नाम था 'रसोनेट रेकार्डर'। यह बहुत सूक्ष्म पुर्जों से बना था। जब इस यन्त्र के निर्माण की खबर चारों ओर फैली तो बहुत से लोग उसे देखने के लिए आने लगे और उनके घर लोगों की भीड़ सी जमा रहने लगी। विदेशी वैज्ञानिक

भी यह देखकर दंग रह गये कि भारत जैसे परतन्त्र और पिछड़े हुए देश में इस प्रकार का यन्त्र कैसे बनाया जा सका। आक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी के एक प्रोफेसर तो उनसे पूछ ही बैठे कि क्या सचमुच आपने इसे भारत में बनाया है ?

अपने इस आविष्कार की सूचना जब पहिली बार उन्होंने लन्दन की रायल सोसायटी को भेजी तो वह भी चकित हुए बिना न रही। सोसायटी ने उन्हें इस सम्बन्ध में भाषण देने के लिए लन्दन बुलाया। वे इंग्लैण्ड गए और सन् १८९७ में उन्होंने इस सम्बन्ध में अपना पहिला भाषण दिया। इसके बाद वे फिर भाषण देने के लिए बुलाये गए और उन्होंने अपने शोध कार्यों पर १० मई सन् १९०१ को दूसरा भाषण दिया। कहने की आवश्यकता नहीं कि उनके ये भाषण चारों ओर पसन्द किए गये। इन भाषणों ने बहुत सी नई-नई बातें वैज्ञानिक संसार के सामने प्रकट करके उसे चकित कर दिया। आचार्य बसु अपना भाषण देकर जब भारत लौटे तो फिर पूरी ताकत से अपने काम में जुट गए। उनकी क्रान्तिकारी शोधों से कुछ वैज्ञानिकों को ईर्षा हुई और वे कहने लगे कि यह शोध नई नहीं है। यह तो पहिले ही कर चुके हैं। लेकिन शीघ्र ही यह प्रगट हो गया कि यह आचार्य बसु की मौलिक शोध है और जो थोड़ा सा कार्य वे वैज्ञानिक अपना बताते हैं वह उन्होंने आचार्य बसु की शोधों से ही चुराया था।

अब उनकी ख्याति चारों ओर फैल गई। सन् १९०० में बंगाल सरकार ने उन्हें भारतीय प्रतिनिधि के रूप में पेरिस में होने वाली साइन्स कांग्रेस में भाग लेने के लिए भेजा। वहाँ उन्होंने अपनी विद्वता का बड़ा अच्छा परिचय दिया। इसी से प्रभावित होकर कुछ ही समय बाद उन्हें फिर पेरिस बुलाया गया। वहाँ उन्होंने अपने शोध कार्य पर बड़े विद्वतापूर्ण भाषण दिये। इन भाषणों के परिणामस्वरूप सन्

१९०२ में 'फ्रेंच सोसायटी ऑफ फिजिक्स' की कोन्सिल में चुने गये। इधर भारत सरकार ने भी सन् १९०३ में उन्हें सी. आई. ई. की उपाधि से विभूषित किया। बंगाल सरकार ने उनके काम का सम्मान करने तथा उनकी सेवाओं से और लाभ उठाने के लिए उनका सेवा-काल दो वर्ष के लिए बढ़ा दिया। इसके कुछ समय बाद सरकार ने अवकाश ग्रहण करने पर उन्हें पेन्शन के स्थान पर पूरा वेतन देने की घोषणा की। भारतीय शिक्षा के क्षेत्र में इस प्रकार का सम्मान सबसे पहिले आचार्य बसु को ही प्राप्त हुआ। इसके बाद सरकार ने उन्हें एक और उपाधि सी. एस. आई. से विभूषित किया।

अवकाश ग्रहण कर आचार्य बसु विश्व भ्रमण के लिए निकले। उन्होंने इंग्लैण्ड पहुँच कर आक्सफोर्ड और केम्ब्रिज विश्वविद्यालयों में भाषण दिये। इसके बाद उन्होंने आस्ट्रिया जाकर विएना में भी भाषण दिये। यहाँ कुछ वैज्ञानिक उनसे इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने कलकत्ता आकर उनके पास काम करने की इच्छा प्रदर्शित की। फिर वे अमेरिका गए। वहाँ चारों ओर से भाषण देने के लिए निमन्त्रित किया जाने लगा। अमेरिका में उन्होंने लगभग सभी बडे-बडे विश्वविद्यालयों तथा अन्य ज्ञान केन्द्रों में जाकर भाषण दिए और सभी जगह उनका हार्दिक स्वागत किया गया। अपनी यात्रा समाप्त करके जब वे भारत लौटे तो यहाँ भी उनका बड़ा सम्मान हुआ और उन्हें 'सर' की उपाधि से विभूषित किया गया।

३० नवम्बर सन् १९१७ में उन्होंने अपनी उनसठवीं वर्षगाँठ पर एक 'रिसर्च इन्स्टीटयूट' की स्थापना की। इस संस्था का उद्देश्य था वैज्ञानिक प्रगति तथा ज्ञान के प्रसार में योग देना। शीघ्र ही यह संस्था अच्छा कार्य करने लगी और उसके सुयश से प्रभावित होकर वायसराय लार्ड चेम्सफोर्ड उसे देखने गये तथा देश के अन्य विद्वान

भी जाने लगे।

सन् १६१७ में उन्होंने 'क्रसको ग्राफ' नामक यन्त्र बनाया। इस यन्त्र में सूक्ष्माति-सूक्ष्म वस्तुओं का ज्ञान कराने की क्षमता थी। सन् १६२६ में उन्होंने एक तीसरा अत्यन्त महत्वपूर्ण यन्त्र बनाया। इस यन्त्र से वैज्ञानिकों को बड़ा लाभ हुआ। अब तक उन्होंने जितने यंत्र बनाये थे उनसे वृक्षों तथा वनस्पतियों की अनेक रहस्यमयी बातों का पता तो लगता था लेकिन यह नहीं मालूम होता था कि वृक्ष कैसे बढते हैं। वह यंत्र यह बात भी प्रकट करने लगा कि वे प्रतिक्षण किस प्रकार बढ़ते हैं। इस यंत्र से इस बात का भी पता चलता है कि किसी मनुष्य की साँस का दबाव पड़ने पर वृक्ष की कितनी हानि होती है। इस यंत्र के आश्चर्यजनक कार्यों को दिखाने के बाद आचार्य वसु ने वृक्षों तथा अन्य जीवधारियों की स्नायुविक प्रतिक्रिया भी दिखाई। पहिले उन्होंने एक मेंढ़क लेकर उसकी कमर में एक प्रकार की विद्युत तरंग दी जिससे उसका दाहिना पैर हिलने लगा। फिर इसके विपरीत तरग दी जिससे उसका बायाँ पैर हिलने लगा। यही क्रिया उन्होंने एक छुईमुई के पौधे की दो पत्तियों के जोड़ पर करके दिखाई। भिन्न-भिन्न विद्युत तरंगों का छुईमुई पर भी वही प्रभाव हुआ जो मेढ़क पर हुआ था। इस प्रयोग के द्वारा उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि मनुष्य तथा वृक्षादि का स्नायु सम्बन्धी संगठन एक-सा है।

वृक्षों में खाद्यरस जिस प्रकार पहुँचता है उसके सम्बन्ध में लोगों की यह धारणा थी कि पत्तों का रस वाष्प बन जाता है और फिर पत्तियाँ उसे चूस लेती है। इसे गलत सिद्ध करने के लिए आचार्य बसु ने मृत प्राय पत्तों पर एक वायु अभेद्य गाढ़ा रस लेप किया जिससे रस वाष्प बनकर उड़ न सके और उस पर एक प्रकार का उत्तेजक रस डालकर पत्तों को हरा कर दिया। इसी प्रकार एक सजीव पत्ते

पर विष डालकर उसे मृत बना दिया और पुनः जब उस पर उत्तेजक रस डाला गया तो वह पत्ता ज्यों का त्यों हराभरा हो गया। आचार्य वसु ने एक और प्रयोग करके यह भी बताया कि जिस प्रकार मनुष्य तथा अन्य जीवंधारियों में हृदय का स्पन्दन होता है उसी प्रकार वृक्षों को भी होता है। इतना ही नहीं औषधि देने से जिस प्रकार मनुष्यों को लाभ होता है उसी प्रकार वृक्षों को भी होता है। इस सम्बन्ध में उन्होंने यह बताया कि भारत में ऐसे भी वृक्ष विद्यमान हैं जो संजीवनी शक्ति का संचार कर सकते हैं। उन्होंने एक ऐसे मेंढ़क के शरीर में इन्जेक्शन द्वारा उस वृक्ष के रस को प्रविष्ट किया जिसके हृदय की गति बन्द हो गई थी और लोगों को उसी समय दिखा दिया कि मेंढ़क पुनः जीवित हो गया है।

सन् १८२८ में वे दूसरी बार यूरोप भ्रमण के लिए निकले। इस बार लीग आफ नेशन्स की बैठक में सम्मिलित होने वे जिनोवा जा रहे थे। जब उनकी इस यात्रा का समाचार मिश्र सरकार को मालूम हुआ तो उसके कृषि-मंत्री ने ब्रिटिश फारेन ऑफीसर से यह प्रार्थना की कि मिश्र की सरकार डा० बसु को सिकन्दरिया में अपना मेहमान बनाना चाहती है। जब उनकी यह प्रार्थना स्वीकार करली गई तो सरकार ने उनका स्वागत बड़ी धूमधाम और हार्दिकता के साथ किया। उसने उन्हें वहाँ की सारी शिक्षा संस्थाएँ तथा बहुत सी जगह उनके भाषण करवाये। उसने उनसे यह प्रार्थना भी की कि वे कुछ मिस्री विद्यार्थियों को अपना विद्यार्थी बनाकर उन्हें वैज्ञानिक ज्ञान का लाभ दें। उनकी इस यात्रा से जगह-जगह विश्व के देशों में भारत के प्रति सम्मान की भावना पैदा हुई।

सन् १९२८ में ही १ दिसम्बर को अन्वेषण भवन में उनकी ७० वीं वर्ष गाँठ मनाई गई। अब वे वृद्ध हो गए थे किन्तु वैज्ञानिक कार्यों

मे उनकी लगन पूर्ववत थी । वे अन्त समय तक कार्य करते रहे। देश-विदेश के बहुत से विद्यार्थी और विद्वान वैज्ञानिक उनके पास पहुँच कर विभिन्न दिशाओं में शोधकार्य करते रहे । उनके जीवन-काल में ही वियना के एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक प्रोफेसर मालिश ने वहाँ जाकर छः महीने तक कार्य किया । वनस्पति वर्ग मे होने वाली प्रतिक्रियाओं को बसु निर्मित यंत्रों की सहायता से प्रत्यक्ष देखकर प्रोफेसर मालिश ने लिखा था—"यह सब परियों की कहानी से भी अधिक आश्चर्यजनक है । परन्तु जिन्हें इन प्रयोगों को देखने का अवसर मिला है उन्हें पूरा विश्वास हो गया है कि ये प्रयोगशाला के ऐसे चमत्कार हैं जिनके द्वारा प्राणी वर्ग मे होने वाली अदृश्य प्रतिक्रियाओं का रहस्योद्‍घाटन हो जाता है ।" अन्त तक कार्य करते हुए २३ नवम्बर सन् १९३६ को उनकी मृत्यु हुई। उनकी मृत्यु पर सर माइकेल सेडलर ने कहा था—"वे प्राणी शास्त्रज्ञों में कवि थे ।" सचमुच वे वैज्ञानिक तो थे ही साथ ही एक कलाकार भी थे। उनकी रचनाएँ बंगभाषा के उत्कृष्ट साहित्य का नमूना है। उनके घर की और बसु इन्स्टीटयूट की दीवारें गगनेन्द्रनाथ, अवनीन्द्रनाथ, नन्दलाल बसु आदि कलाकारों की कलाकृतियों से अलंकृत है ।

एक अध्यापक और मार्गदर्शक के रूप में उनको जो सफलता मिली थी वह किसी भी व्यक्ति की ईर्षा का विषय बन सकती है । वे एक अच्छे वक्ता थे और अपूर्ण विषय को भी अपनी भाषण शक्ति से पूर्ण बना देने की कला में सिद्धहस्त थे ।

आत्मविश्वास और साहस की तो जैसे वे सजीव प्रतिमा ही थे। एकबार वे पेरिस में विज्ञान परिषद् के सामने एक प्रयोग करके दिखा रहे थे । इस प्रयोग से वे यह सिद्ध करना चाहते थे कि भयकर विष

पोटेशियम साइनाइड एक वृक्ष को उसी प्रकार मार सकता है जिस प्रकार एक मनुष्य को। यह विष एक रसायनिक विक्रेता की दूकान से मंगवाया गया। उस व्यक्ति ने इन्हें नीचा दिखाने के लिए पोटेशियम साइनाइड के बजाय श्वेत शकर दे दी। प्रयोग दिखाते समय जब उन्होंने वह श्वेत द्रव्य पौधे पर डाला तो उसका पौधे पर कोई असर नहीं पड़ा। लोग उत्सुकता से देख रहे थे लेकिन वे तनिक भी विचलित नहीं हुए, उन्होंने उस कल्पित विष को फाँकते हुए कहा—"यदि इसका प्रभाव इस पौधे पर कुछ नहीं पड़ता तो मुझ पर भी नहीं पड़ेगा।" इस घटना से जहाँ उस छल की पोल खुल गई वहाँ उनके दृढ़ आत्मविश्वास और साहस का भी उद्घाटन हो गया।

आचार्य बसु का जीवन अत्यन्त सादा तथा चरित्र अत्यन्त पवित्र था। त्याग, तपस्या और औदार्य तो जैसे उन्हें माँ के दूध के साथ ही मिल गया था। पश्चिमी शिक्षा और सभ्यता के निकट सम्पर्क में रह कर भी उनकी पूर्वीयता अक्षुण्ण बनी रही। वे अपनी आय का केवल पाँचवाँ भाग ही अपने व्यक्तिगत उपभोग में लाते थे। शेष सब विद्यार्थियों तथा शिक्षा संस्थाओं को बाँट देते थे। उन्होंने अपने जीवन काल में १५ लाख से अधिक रुपया सार्वजनिक कार्यों में लगाया और मृत्यु के समय अपनी शेष सम्पत्ति वैज्ञानिक अन्वेषण, मद्यनिषेध, साहित्योन्नति, स्त्रीशिक्षा, पुस्तकालय आदि कार्यों के लिए दान करने की वसीयत की।

आधुनिक युग के विचारों पर उनका जो प्रभाव पड़ा है। वह इस छोटी घटना से ही प्रकट होता है कि इस युग के बहुत बड़े नाटककार जार्ज बर्नार्ड शा ने अपने ग्रन्थों का एक संकलित संस्करण उनके पास भेजकर लिखा था—'एक अकिंचन की ओर से एक महान प्राणीशास्त्रवेत्ता को।'

इसमें कोई सन्देह नहीं कि वे भारत माता के एक ऐसे महान पुत्र थे जो अपनी महानता से सारी दुनिया के बन गये। उनके रूप में मानो भारत की पिछली बीस शताब्दियों की सभ्यता और संस्कृति ही लह-लहा उठी थी। उन्होंने दुनिया को जो कुछ दिया उस पर भारत ही नहीं सारी दुनिया गर्व करती रहेगी।

: ९ :

आचार्य धोंडो केशव कर्वे

"प्राचीन काल में स्वतन्त्रतापूर्वक विचार करने वाले लोग बहुत कम होते थे। उन दिनों कुछ थोड़े से लोग विचार करते थे। तथा शेष सब उनका अनुसरण करते थे। मेरा आशय यह नहीं है कि पुराने आचार विचार पर श्रद्धा रखकर उनके अनुसार चलने वाले लोग अंध-श्रद्धालु हैं। अपनी बुद्धि के अनुसार नवीन प्राचीन की जांच परताल करके प्राचीन को ग्रहण करना वस्तुतः अन्ध श्रद्धा है भी नहीं। किन्तु आजकल स्वतन्त्र रूप से विचार करके उसके अनुसार आचरण करने वालों की संख्या बढ़ गई है और साधारण जनता में भी हमें ऐसे लोग पर्याप्त मात्रा में मिल जाते हैं जो किसी भी विचार को केवल अन्ध श्रद्धा से ग्रहण नहीं करते अपितु यह देखते हैं कि वह युक्ति-युक्त एवं अनुभव गम्य है या नहीं। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ है कि प्राचीन काल के धर्म-विचार और धारणाओं पर से लोगों की श्रद्धा उड़ती जा रही है। संसार के सभी प्रगतिशील राष्ट्रों में यह बात हो रही है और पाश्चात्य विद्या के साथ उसकी लहर हिन्दुस्तान में भी आई है। बहुत से लोगों की धारणा यह है कि सभी प्रकार के विचारों और मतों को समालोचक बुद्धि की कसौटी पर कसना तथा उसके अनुसार राष्ट्रों और धर्मों में परिवर्तन करते रहना अवनति कारक हैं। किन्तु मुझे इस प्रकार का परिवर्तन राष्ट्रोन्नति की ओर ले जाने वाला ही प्रतीत होता है। अपनी बुद्धि से विचार न करके पुराने विचार को ही सही मानते रहना मुझे अवनति कारक प्रतीत होता है, तथा प्राचीन अर्वाचीन में से चुनाव करते हुए यदि व्यक्ति गलत भी चुन ले तो वह मुझे उसके लिए उन्नति कारक ही प्रतीत होता है। अतः मेरी दृष्टि में श्रेयस्कर है कि व्यक्ति अपने उत्तरदायित्व को समझकर प्रामाणिकता के साथ विचार करे और उसे जो विचार सत्य लगे उसे ग्रहण करे तथा जहाँ कुछ शंका हो वहाँ अपना कोई निश्चित मत न बनने दे।

—आचार्य कर्वे

आचार्य धोंडो केशव कर्वे

आचार्य कर्वे का जन्म १८ अप्रेल सन् १८५८ में महाराष्ट्र के शेरवली ग्राम में हुआ था। शेरवली ग्राम दक्षिणी कोकण में मुरुड़ नामक ग्राम के पास ही बसा हुआ है। समुद्र का किनारा यहाँ से बहुत निकट है। उनके पिता केसोपंत बड़े शान्त और गभीर स्वभाव के व्यक्ति थे। बहुत छोटी उम्र में ही पिताजी की मृत्यु हो जाने से उन्हें बड़ा कठोर परिश्रम करना पड़ा था। उन्होंने बड़े साहस के साथ सारी परिस्थिति का मुकाबला किया था और थोड़ा-थोड़ा बचाकर मुरुड़ में एक मकान भी बना लिया जहाँ आगे चलकर परिवार के बालकों ने शिक्षा प्राप्त की थी।

माँ धार्मिक वृति की महिला थी। उनके स्वभाव में थोड़ा चिड़-चिड़ापन अवश्य था किन्तु उनकी चिड़चिड़ाहट न तो बाहर के लोगों को मालूम हो पाती थी न उससे किसी को कुछ हानि ही होती थी। उनका विवाह सात वर्ष की आयु में ही हो गया था। यद्यपि उनके जीवन के प्रारंभिक वर्ष बड़े कष्ट में व्यतीत हुए तथापि उन्होंने कभी किसी से उसकी शिकायत नहीं की। उनकी सत्यप्रियता भी कमाल की थी। कहा जाता है कि हमारे चरित्र नायक आचार्य कर्वे के विवाह के समय जब वधू घर आई तो उसके स्वागत के समय वे कुछ आव-श्यक वस्तुएँ लाना भूल गए। वधू पक्ष की एक बुजुर्ग महिला ने सबके सामने ही कह दिया—"वाह, तुम भी खूब हो! इतनी छोटी-छोटी बातों का भी खयाल नहीं रहता! आदि" बात कुछ इतने चुभते हुए शब्दों में कही गई थी कि कोई भी व्यक्ति चिढ़े बिना न रहता। लेकिन जब उन्होंने अपने ही हाथ से गाल पर चपत लगाते हुए कहा—"ओह, भूल हो गई। क्षमा कीजिये।" तो सब महिलाएँ चकित रह गईं और सारा कार्यक्रम निर्विघ्नता से पूरा हो गया।

चार वर्ष की आयु में ही उन्हें अपने बड़े भाई के साथ मुरुड़

पढने भेजा गया। यहाँ के अध्यापक प्रायः अच्छे होते थे। अतः आस-पास के ग्रामों से भी काफी बालक पढ़ने आते थे। बाल्यावस्था में ही वे एक अच्छे विद्यार्थी के रूप में प्रसिद्ध हो गये। कुसाग्रबुद्धि और परिश्रम प्रियता उन्हें सभी अध्यापकों का कृपा भाजन बना देती थी। कुछ अध्यापकों का तो उनपर इतना स्नेह हो गया कि रात्रि के समय वे उनके घर ही पढ़ने जाते और वहीं सोते। मराठी की प्रारंभिक शिक्षा समाप्त करने के बाद उन्होंने अंग्रेजी पढ़ना प्रारंभ किया और उसके लिए रत्नागिरि रहे। यहाँ कुछ क्रम लगा ही था कि बीमार हो गये और वापिस लौटना पड़ा। इन दिनों घर की स्थिति ऐसी नही थी कि पिता जी शिक्षा का पूरा खर्च उठा पाते। फिर भी अपने घरेलू खर्च में किसी प्रकार कमी करके उन्होंने उन्हें बम्बई भेजा। बालक धोंडों कर्वे अपनी स्थिति से परिचित थे। अतः उन्होंने प्रयत्न किया कि कोई ट्यूशन मिल जाय तो अच्छा। थोड़े प्रयत्न के बाद उन्हे इसमें सफलता मिल गई और बालकों को पढ़ाकर वे कुछ अंशों तक स्वावलम्बी बन गये। अब उनके अध्ययन का अच्छा क्रम प्रारंभ हुआ किन्तु दुर्भाग्य से इसी समय पिताजी की मृत्यु का समाचार मिला। इस आघात से वे बड़े दुखी हुए और उन्हें इस बात का बड़ा पश्चात्ताप रहा कि अन्त समय में अपने पिता के पास न रह सके।

गरीबी और कठिनाई में विद्याभ्यास करने के कारण तथा माता पिता से प्राप्त संस्कारों के कारण उनके मन में गरीबों के प्रति जबरदस्त सहानुभूति थी। यद्यपि इन दिनों वे स्वयं ही आर्थिक परेशानियों के शिकार थे तथापि उनकी सहानुभूति अभिव्यक्त हुए बिना कैसे रह सकती थी। उन्होंने निश्चय किया कि स्कालरशिप, ट्यूशन आदि के रूप में उन्हें जो भी आय होगी उसमें से एक पैसा प्रति रुपया के हिसाब से अवश्य बचाएंगे तथा उसे किसी पुण्य कार्य में खर्च

करेंगे। बस यह काम प्रारंभ हो गया। जब कभी किसी विशेष कारण से कोई आय हो जाती तो वह तो पूरी की पूरी इस फण्ड में जमा कर दी जाती। सबसे पहिली बार जब तक पूरे तीन रुपये जमा न हुए उन्हें खर्च न किया गया। जब पूरे तीन रुपये इकट्ठे हो गये तो एक सुन्दर-सा मौका भी आ गया। बम्बई में वे जिस भोजनालय मे भोजन करते थे उसके संचालक नागोपंत दातार क्षय रोग से पीडित हुए और उनकी हालत इतनी बिगड़ी कि भोजनालय का काम समाप्त करके वे मुरुड़ चले गये। बम्बई में उन्होंने बालक धोंडों कर्वे से पाच रुपये उधार लिये थे किन्तु उसे लौटा नहीं पाये थे। गर्मियों की छुट्टी में भी मुरुड़ पहुँचे और दातार साहब से मिलने गये। इन्हें देखते ही वे बोले—"अपने रुपये मांगने आया होगा न?" बालक धोंडों ने तुरन्त उत्तर दिया—"ऐसा समझिये कि वे रुपये आपने मुझे लौटा दिये, मैं तो आपके लिए ये तीन रुपये लाया हूँ इन्हें स्वीकार कीजिये।" मृत्युशय्या पर पड़े हुए दातार गद्‌गद् हो गये और इधर बालक धोंडों को परोपकार के आनन्द की कुछ ऐसी अनुभूति हुई कि वह प्रसंग वट वृक्ष के छोटे से बीज की भांति महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ और अविस्मरणीय बन गया।

पिता के आकस्मिक निधन ने रहा सहा सहारा भी समाप्त कर दिया था। अब हमेशा यह शंका बनी रहने लगी कि पता नहीं कब पढना लिखना छोड़ देना पड़े। अतः उन्होंने पढ़ने में और ज्यादा मन लगाया। परिणाम यह हुआ कि उन्हें प्रत्येक कक्षा में स्कालरशिप मिलती रही। कभी कक्षा में प्रथम स्थान प्राप्त करने के लिए, कभी द्वितीय स्थान प्राप्त करने के लिए। उन्होंने मैट्रिक पास कर लिया और कालेज में भर्ती हो गये। मैट्रिक पास हो जाने के बाद तक भी उन्हें यह भरोसा न हो गया था कि वे अपनी शिक्षा चालू रख सकेंगे किन्तु

स्कालरशिप और ट्यूशन के कारण यह काम सरल बनता गया। उन्हे तीन-तीन चार-चार ट्यूशन प्राप्त हो जाती। और प्रत्येक ट्यूशन से तीन से लेकर पांच तक रुपये प्राप्त होजाते। इस सहायता के बल पर पढ़ते गये।

मैट्रिक परीक्षा पास कर लेने के बाद वे विल्सन कालेज में भर्ती हुए। उन दिनों इस कालेज के प्रिन्सीपल श्री मॅकिनन थे। वे चाहते थे कि उनके कालेज में अच्छे विद्यार्थी ही भर्ती हों। अत: एक ओर वे ऐसे बालकों को स्कालरशिप आदि सुविधाएँ देकर प्रोत्साहित करते थे दूसरी ओर प्रचार करके भी अपने कालेज में बुलाने का प्रयत्न करते रहते थे। विद्यार्थी धोंडो कर्वे मैट्रिक की परीक्षा में अच्छे अंकों से उत्तीर्ण हुए और उन्हें समस्त विद्यार्थियों में १६ वाँ नम्बर मिला। अत: मॅकिनन साहब ने उन्हें ८ रुपये प्रतिमास स्कालरशिप देने की व्यवस्था करवा दी। बस इस स्कालरशिप और २—३ ट्यूशनों के वल पर उनकी शिक्षा फिर चल पड़ी। यहाँ गणित में सबसे अधिक अक प्राप्त करने के कारण उन्हें पुरस्कार मिला और आगे चलकर जब वे एलफिस्टन कालेज में भर्ती हुए तब भी इस प्रकार का पुरस्कार उन्हे मिला। एलफिस्टन कालेज में स्कालरशिप तो नहीं मिली किन्तु उनकी फीस अवश्य माफ हो गई थी। इसी कालेज से उन्होंने सम्मान के साथ बी० ए० पास किया।

बी० ए० पास कर लेने पर यद्यपि एम० ए० पास कर लेने की उनकी तीव्र इच्छा थी और उसके लिए ट्यूशन आदि के द्वारा और दो वर्ष निकाल लेना कठिन नहीं था तथापि नौकरी कर लेना भी अब आवश्यक-सा हो गया था। एक ओर परिवार का उत्तरदायित्व उन्हें इसके लिए विवश कर रहा था तो दूसरी ओर २०० रुपये का कर्ज चुकाने की चिन्ता भी परेशान कर रही थी। अत: उन्होंने बम्बई के एलफिस्टन हायस्कूल में नौकरी कर ली। एक वर्ष काम करने के बाद वे यहाँ से

मुक्त हो गये क्योंकि वे जिस व्यक्ति के स्थान पर काम करने लगे थे वह छुट्टी से लौट आया था। अब उन्होंने ट्यूशन कर ली और एम० ए० की परीक्षा प्राइवेट रूप से दी किन्तु उसमें असफल रहे। सन् १८८४ में वे बी० ए० पास हुए। सन् १८८७ में एम० ए० फेल। बस उन्होंने आगे परीक्षा में बैठने का विचार ही छोड़ दिया। एलफि-स्टन हाईस्कूल की नौकरी छोड़ने के बाद लगभग छः वर्ष तक ट्यूशन ही करते रहे।

उनका विवाह उस समय की प्रथा के अनुसार १५ वर्ष की आयु मे ही हो गया था। पत्नी राधाबाई उसी ग्राम की बालिका थी और बाल्यावस्था में कर्वे जी उसके साथ खेले थे। विवाह हो जाने पर जब गर्मी के दिनों में वे बम्बई से आते तो उसे और अपनी बहिन को साथ साथ पढ़ाते थे और उस पुराने जमाने में भी न माँ इस पर कोई आपत्ति करतीं। वह कष्ट सहिष्णु और सरल स्वभाव वाली महिला थी किन्तु लम्बा जीवन उसके भाग्य में नहीं था। सन् १८९१ में ही वह चल बसीं।

अपनी आय के प्रति रुपये पर एक पैसा धर्मार्थ निकाल लेने का जो क्रम प्रारंभ हुआ था उसमें आगे भी किसी प्रकार का व्यतिक्रम नहीं पड़ा। इतना ही नहीं जब वे एलफिस्टन हाईस्कूल में अध्यापक हो गये तो उन्हें यह अनुपात बहुत कम प्रतीत होने लगा और उन्होंने इसे बढ़ाकर पांच रुपये प्रति सैकड़ा कर दिया। इस कोष का नाम रखा 'दी मराठा फाइव परसेन्ट'। इसका उपयोग अधिकतर वे गरीब विद्या-र्थियों की सहायता में करते थे। इससे अपने आसपास के कई विद्यार्थियों को उन्होंने सहायता दी और उनकी शिक्षा का मार्ग प्रशस्त किया।

यद्यपि इस कोष की स्थापना उनकी अपनी प्रेरणा के परिणाम स्वरूप ही हुई थी तथापि विद्यार्थी जीवन में कुछ ऐसे व्यक्तियों और संस्थाओं

के सम्पर्क में भी वे आये जिन्होंने उस भावना का पोषण किया। इस प्रकार के व्यक्तियों में उनके गुरु सोमण मास्टर तथा संस्थाओं में मुरुड फण्ड, मुरुड स्कूल, शिक्षणोत्तेजक मण्डल तथा स्नेह वर्धक मण्डली, प्रमुख थे। इस सबने जहाँ उन्हें धमार्थ रुपया बचाने की प्रेरणा दी वहाँ उसका अच्छा से अच्छा उपयोग करने का भी रास्ता बताया। इनमें से कुछ संस्थाओं को उन्होंने दान दिया और राधाबाई की मृत्यु पर उनकी स्मृति में एक विशेष दान दिया।

सन् १८९१ में उन्हें पूना के फर्ग्यूसन कालेज में गणित के अध्यापक की नौकरी मिल गई। उन्होंने काम प्रारंभ किया और लगभग २२ वर्ष तक इसी कालेज में अध्यापन कार्य करते रहे। यहाँ उन्होंने न्यूइंगलिश स्कूल के लिए एक कोष बनाने में बड़ी दिलचस्पी ली तथा काफी प्रयत्न करके धीरे-धीरे उसे ७–८ हजार तक पहुँचा दिया।

इधर पत्नी की मृत्यु हो जाने के कारण घर और बाहर से दूसरे विवाह के लिए जोर डाला जाने लगा। कर्वेजी को यह अच्छा प्रतीत नहीं हुआ कि वे किसी कुँवारी लड़की से विवाह करे। समाचार पत्रों मे उन्होंने उन दिनों विधवा विवाह की चर्चा पढ़ी थी तथा वैचारिक दृष्टि से उन्हें वह अच्छा भी लगा था। इसके अलावा समाज में भी जब तब कोई-न-कोई ऐसी घटना घट जाती थी जो उनका ध्यान इस ओर आकर्षित कर लेती थी। उन्होंने देखा था कि यदि किसी विधवा से कोई अनैतिक कार्य हो जाता था तो समाज उसे कड़ी सजा देता था। उसका घर में रहना असंभव हो जाता। विधवा के पिता को विवश होकर उसे घर से निकाल देना पड़ता और उसे पिछले दिनों अपने घर में रखने के लिए जाति बिरादरी वालों को जुर्माना देना पड़ता था। विधवाओं की यह दुर्दशा उनके हृदय में खटकती रहती थी। अत उन्होंने निश्चय कर लिया कि किसी विधवा से ही उनका विवाह होगा।

सौभाग्य से एक दिन पूना में उनके सहपाठी मित्र श्री नरहर पंत के पिता श्री बालकृष्ण केशव जोशी पूना आये और बातचीत के सिलसिले में पूछने लगे कि नरहर पंत और तुम दोनों ही विधुर हो। तुम लोगों ने इस बारे में क्या सोचा है? कर्वेजी ने कहा—"मुझे नरहर पंत के बारे में तो कुछ ज्ञात नहीं है किन्तु जहाँ तक मेरा अपना सम्बन्ध है मै तो किसी विधवा से ही विवाह करूँगा।" बालकृष्ण जी ने कहा—"तो उसकी खोज में दूर जाने की आवश्यकता क्या है। उनका आशय अपनी विधवा पुत्री से ही था। कर्वेजी ने यह प्रस्ताव खुशी-खुशी स्वीकार कर लिया और सन् १८९३ में ११ मार्च के दिन पूना में विवाह हो गया। पूना के प्रगतिशील लोगों ने इसमें बड़ी दिलचस्पी ली और उन दिनों पत्रों में भी उसकी काफी चर्चा हुई।

किन्तु पुराने विचार के लोगों को इस विवाह से बड़ा आघात भी लगा। जब मई महीने में सदैव की भाँति वे मुरुड ग्राम पहुँचे तो जात-बिरादरी में तूफान-सा आ गया। उन्होंने अपनी सभा में तय किया कि धोंडो पन्त के साथ, न तो गाँव का कोई व्यक्ति बैठे न उन्हें किसी सभा में बुलाया जाय। यदि उनके भाई और माता उनके साथ किसी प्रकार का सम्पर्क रखें तो उनका भी बहिष्कार कर दिया जाय। उनके लिए पहिले दो प्रतिबन्ध इतने दुःखदायी नहीं थे जितना तीसरा। इस तीसरे प्रतिबन्ध के परिणाम स्वरूप भाई बहिन और माँ से बात-चीत करना भी कठिन हो गया। गर्मी के दिनों में जब वे मुरुड़ आते तो उन्हें दूसरे स्थान पर ठहरना पड़ता और माता तथा उनके भाई आदि रात्रि के बारह बजे चोर की तरह समाज की आँख बचाकर उनसे मिलने जाते और थोड़ी-सी बातचीत करके लौट आते। माँ तीर्थ यात्रा के लिए जाती हुई पूना से गुजरी किन्तु समाज के भय से ही उनसे न मिली और अन्त समय में भी उसने इसी कारण उनको खबर नहीं दी।

जब वे बहुत अधिक बीमार हो गईं तब कर्वेजी को खबर की गई और वे उसी समय रवाना हो गये। किन्तु मुरुड़ पहुँचकर उन्होंने देखा कि माँ की मृत्यु हुए एक दिन हो चुका है। माँ से अन्तिम समय में भी न मिल सकने की बात आज तक उन्हें चुभती रहती है।

विधवा विवाह के प्रश्न को लेकर समाज में जो तूफान खड़ा हुआ उससे उन्हें अपने कर्तव्य का भान हुआ। वे सोचने लगे कि मैंने जो कुछ किया है वह तो पहली सीढ़ी मात्र है। विधवाओं को समाज में सम्मान का पद दिलाने के लिए अभी बहुत कुछ करना है। उन दिनों इस दिशा में कार्य करने वाली कोई संस्था महाराष्ट्र में नहीं थी। अतः इधर-उधर प्रचार करके तथा चन्दा इकट्ठा करके उन्होंने सन् १८९३ में 'विधवा विवाहोत्तेजक मण्डली' नामक संस्था की स्थापना की। जब चारों ओर कट्टर पंथी लोग कड़ा विरोध कर रहे थे और सुधारवाद के लिए बहुत थोड़ा स्थान था तब अत्यन्त कड़ा परिश्रम करके और अनेक विरोधों को अपने ऊपर लेकर उन्होंने इसे एक जीवित जाग्रत संस्था बना दिया और उसके द्वारा समाज की लन्छित, पीड़ित और दुखित महिलाओं को राहत पहुँचाई।

यद्यपि वे विधवा विवाह के सम्बन्ध में आगे बढ़कर काफी काम कर रहे थे तथापि शीघ्र ही उनके ध्यान में यह बात आई कि लोग इस प्रश्न को धार्मिक दृष्टि से देखते हैं अतः इस काम में अधिक बाधाओं का मुकाबला करना पड़ता है तथा बहुत कम लोग सहयोग देने के लिए आगे आ पाते हैं। ऐसी स्थिति में यदि विधवाओं में शिक्षा प्रचार का काम प्रारंभ किया जाय तो वह बुनियादी काम होगा और उसमें चारों ओर से सहयोग प्राप्त हो सकेगा। बस यह विचार उनके मन में बैठ गया। पंडिता रमाबाई ने इन दिनों पूना में ही शारदा सदन नामक एक संस्था का श्रीगणेश किया था जिसमें विधवाओं को शिक्षा दी

जाती थी। इस संस्था को प्रारंभ में काफी सफलता मिली थी किन्तु जब उसमें शिक्षा पाने वाली कुछ महिलाएँ ईसाई बनाली गईं तो हिंदू समाज सशंकित हुआ और इस संस्था की प्रगति रुक-सी गई थी। इस उदाहरण ने उनके विचार को और बल पहुँचाया।

जब यह विचार उनके मस्तिष्क में घूम रहा था तब उन्होंने सोचा कि ऐसी संस्था खोलना साधारण कार्य नहीं है। उसमें अपनी पूरी शक्ति और पूरा समय लगाने की तैयारी करनी पड़ेगी तभी वह काम आगे बढ सकेगा अन्यथा नहीं। ऐसा विचार कर उन्होंने अपनी अब तक की सारी कमाई जो एक हजार रुपये थी उसके लिए दे देने का निश्चय कर लिया। फिर तो दूसरे लोगों से भी कुछ चन्दा एकत्र हो गया और सन् १८९६ के जून मास में अनाथ बालिकाश्रम नामक संस्था का श्रीगणेश कर दिया गया। इसके अध्यक्ष संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान और सुधारक डा० रामकृष्ण भाण्डारकर बनाये गये तथा मन्त्री स्वयं कर्वे साहब। प्रारंभ में विधवा बहिनों के निवास की व्यवस्था फीमेल हाईस्कूल के बोर्डिंग हाउस में ही करली गई किन्तु बाद में सदाशिव पेठ में स्थित गोरे के बाड़े को इस कार्य के लिए किराये से ले लिया गया और संस्था की प्रवृत्तियाँ वहाँ प्रारंभ हो गई।

किसी भी संस्था को जमाना और चलाना काफी कठिन कार्य होता है। कर्वे साहब को इसके लिए बड़ा कड़ा परिश्रम तथा अधिक से अधिक त्याग करना पड़ा। उन्हें चन्दा लेने के लिए दूर-दूर जाना पडता था। उन दिनों महाराष्ट्र में प्लेग फैल रहा था और सरकार प्लेग रोकने के उपाय कड़ाई के साथ लागू कर रही थी। यात्रा करने में इस कारण बड़ी बाधाओं का मुकाबला करना पड़ता था। जगह-जगह कपड़े गरम पानी से धोने पड़ते थे, जन्तुनाशक द्रव्य को पानी में डालकर उससे नहाना पडता था और टीके लगवाने पडते थे। कर्वे

साहब स्वभाव से ही मितव्ययी और कष्ट सहिष्णु थे। फिर संस्था के पैसे को तो वे और भी अधिक समझ बूझकर खर्च करते थे तथा उसका पूरा-पुरा हिसाब रखते थे। अतः सदैव तीसरे दर्जे में ही सफर करते और दूसरे खर्च भी बड़ी सावधानी से करते थे। इस प्रकार बड़े कड़े परिश्रम के द्वारा उन्होंने संस्था के लिए चन्दा एकत्र किया तथा अपने पास जो कुछ था उसे भी संस्था के अर्पण कर दिया। अब उनके पास पैसा तो था नहीं एक पाँच हजार रुपये की बीमे की पालिसी थी। सन् १८९९ में उन्होंने उसे भी संस्था को अर्पण करके निश्चिन्तता प्राप्त करली।

सन् १८९९ में प्लेग प्रारम्भ हुआ सब लोग शहर से बाहर जाकर रहने लगे। अनाथ बालिकाश्रम को भी बाहर ले जाना अनिवार्य हो गया। रायबहादुर गोखले के बगीचे में उसे ले जाया गया। बाद में गोखलेजी ने वहीं छः एकड़ जमीन उसके लिए दे दी और सन् १९०० में आश्रम की झोंपड़ी पाँच सौ रुपये लगाकर तैयार करली गई।

झोंपड़ी तैयार हो जाने पर कार्वे साहब को २-३ साल तक बहुत परिश्रम करना पड़ा। कालेज में पढ़ाकर वे आश्रम के लिए आवश्यक वस्तुएँ खरीदते और पुट्ठल को सिर पर रख कर चल पड़ते। रात्रि को आश्रम रहकर प्रातःकाल बहिनों को पढ़ाते और कालेज के समय तक पूना आ जाते। उन दिनों रेल, मोटर तो दूर बैलगाड़ी तक के लिए ठीक सा रास्ता नहीं था। बरसात में तो रास्ता बहुत बिगड़ जाता था। मजदूर कभी मिलते थे कभी नहीं। अतः अधिकांश काम कर्वे साहब को ही करने पड़ते थे। आश्रम में उस समय आठ महिलाएँ थीं। उनकी देखरेख कर्वे साहब के परिवार की ही एक महिला कर लेती थी। पढाने के लिए एक पेंशनर मास्टर

साहब रख लिए गये थे जो प्रातःकाल आकर सायंकाल चले जाते थे।

इस प्रकार इस संस्था को जमाने के लिए कर्वे साहब कड़ी तपस्या ही कर रहे थे। उत्साह के कारण यद्यपि उन्हें बहुत से कष्ट, कष्ट प्रतीत नहीं होते थे तथापि जब घर में कोई बच्चा बीमार होता, पत्नी को कोई कष्ट होता या कोई अन्य बात होती तो यद्यपि कर्तव्य भावना उन्हें आगे खींच लाती तथापि मार्ग में चलते-चलते आँखें आँसुओं से भर जाती और भारी मन से वे कदम बढ़ाते हुए चलते रहते। परिवार और सम्बन्धी उन्हें प्रिय अवश्य लगते थे किन्तु संस्था उनसे भी ज्यादा प्रिय बन चुकी थी उसके लिए सब कुछ छोड़ने को उनकी तैयारी हो गई थी। एक बार जब वे संस्था के लिए चन्दा माँगने गये। पत्नी को बच्चा होने वाला था। उनका रहना आवश्यक था। किन्तु कर्तव्य भावना खींच ले गई। वे चन्दा माँगते रहे और इधर बच्चा पैदा हुआ। चौबीस घण्टे जिन्दा रहकर मर गया। घर पर पत्नी अकेली थी। सौभाग्य से उनके भाई नरहर पन्त अकस्मात वहाँ आ गए और उन्होंने बच्चे की अन्तिम क्रिया आदि कार्य किये नहीं तो न जाने क्या होता।

कर्वेजी के सतत परिश्रम और लगन से आश्रम का काम बढने लगा। प्रारंभ में उन्हें उनकी पत्नी तथा निकट के व्यक्तियों को ही उसके काम में पूरी शक्ति लगानी पड़ती थी किन्तु उन्होंने अनुभव किया कि जब तक इस कार्य के साथ एक रूप होकर काम करने वाली महिलाएँ न मिलेगी तब तक इसका उचित विकास न हो सकेगा। यह महिलाओं की उन्नति का काम है और इसमें उन्हीं को ज्यादा-से-ज्यादा हिस्सा लेना चाहिए। अतः उन्होंने आश्रम की महिलाओं को शिक्षा प्राप्त करके उसके काम में जुट जाने की प्रेरणा देना प्रारंभ किया। त्याग के वातावरण में त्याग को प्रोत्साहन मिलता है और बलिदान के वातावरण में बलिदान को। कर्वे साहब के परिश्रम, त्याग और तपस्या

ने आश्रम के कण-कण में यह भावना भर दी थी। अतएव त्याग और परिश्रम की बेल फलने फूलने लगी। पार्वतीबाई, वेजूबाई, नामजोशी, काशीबाई देवधर आदि योग्य और परिश्रमी महिलाएँ आगे आई तथा आश्रम की बहुत सी जिम्मेदारी अपने ऊपर लेने के लिए तैयार हो गई। इन महिलाओं के सहयोग से आश्रम की प्रगति में बड़ी सहायता मिली। धीरे-धीरे सन् १९०५ तक तो संस्था की स्थिति इतनी अच्छी हो गई कि बाहर से प्रतिवर्ष हजार डेढ़ हजार व्यक्ति उसे देखने आने लगे। इतना ही नहीं कुछ बड़े-बड़े लोग भी उसे देखने आये और उसका काम देखकर प्रसन्न हुए। अपने आठ-दस वर्ष के जीवन में ही आश्रम बाहर के लोगों को तो प्रभावित करने ही लगा था किन्तु उसने सबसे बडा काम यह किया कि महाराष्ट्र की विधवाओं के मन में आशा की नवीन किरण उत्पन्न कर दी। उन्हें विश्वास होने लगा कि उनका जीवन रोते रहने के लिए नहीं है। यदि वे थोड़ा-सा साहस करके आश्रम में भर्ती हो जाय तो थोड़े ही वर्षों में शिक्षित और सुसंस्कृत बनकर स्वावलम्बी हो सकती हैं और सेवा का कोई कार्य लेकर समाज में आदर स्थान प्राप्त कर सकती हैं। फिर न वे किसी पर बोझ बनेगी न किसी को उन्हें सताने का साहस होगा।

प्रारम्भ में आश्रम का कार्य विधवा महिलाओं की शिक्षा के साथ ही प्रारम्भ हुआ था। उन दिनों विधवाओं के साथ उनके बालक-बालिकाओं तथा छोटी बहिनों को भी प्रवेश दे दिया जाता था तथा उनकी शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था की जाती थी किन्तु धीरे-धीरे इस प्रकार की बालिकाओं की संख्या बढ़ने लगी और यह आवश्यकता अनुभव की जाने लगी कि उनके लिए एक अलग विद्यालय बनाया जाय। यद्यपि आश्रम को चलाने में ही बहुत शक्ति खर्च हो जाती थी और एक नया काम बढा लेना कष्ट साध्य प्रतीत होता था तथापि

उसे न करना संस्था की प्रगति को रोक देना होता था। अतः सन् १९०७ में महिला विद्यालय नामक एक और संस्था की स्थापना की। प्रारम्भ में उसका श्रीगणेश पूना में एक स्थान किराये पर लेकर किया गया किन्तु जल्दी ही हिंगले में उसके लिए एक मकान बनवा लिया गया और वह वहीं आ गई। सन् १९१३ तक केवल चार वर्ष में ही बालिकाओं की संख्या ९१ हो गई। भागीरथी की भाँति संस्था भी अपने उद्गम स्थान से निकल समय के साथ-साथ आगे बढ़कर विकास करती जा रही थी। सन् १९१३ के बाद तो महाराष्ट्र ही नहीं मध्य प्रदेश, गुजरात, हैदराबाद आदि स्थानों से भी बालिकाएँ आने लगीं और हिंगले की वह पहिली झोंपड़ी एक पूरा ग्राम बन गई। वहाँ कार्यकर्ताओं के परिवार बस गये और चहल पहल काफी बढ़ गई।

इस प्रकार संस्था का विकास होता जा रहा था किन्तु उसके साथ कर्वे जी का उत्तरदायित्व भी बढ़ता जा रहा था। इतने विकास के बाद अब वे इस निश्चय पर पहुँचे कि संस्था का पूर्ण विकास निष्ठावान, परिश्रमी और त्यागी कार्यकर्ताओं के बिना सम्भव नहीं हो सकता। ऐसे कार्यकर्ता ही उस उद्देश्य को मूर्त रूप दे सकते हैं जिसको ध्यान में रखकर संस्था का निर्माण किया गया है। संस्था को विकास के लिए साधन सामग्री की तो आवश्यकता होती ही है किन्तु साधन सामग्री उसका शरीर है। यदि संस्था की आत्मा किसी को कह सकते हैं तो वह निष्ठावान, त्यागी और तपस्वी कार्यकर्ताओं को ही। संस्था में नवीन प्राण का संचार करने तथा उसे नवीन चेतना से भर देने के उद्देश्य से कर्वेजी ने सन् १९१० में 'निष्काम कर्ममठ, नामक एक और संस्था की स्थापना की। इस संस्था के कार्यकर्ताओं के लिए निम्नलिखित प्रतिज्ञा लेना आवश्यक समझा गया—

(१) मैं आज से ही अपना जीवन संस्था के काम के लिए अर्पित

करता हूँ।

(२) मैं अपनी पूरी शक्ति संस्था के ही कार्य में खर्च करूँगा और संस्था का कार्य करते हुए कोई व्यक्तिगत लाभ उठाने का प्रयत्न नहीं करूँगा।

(३) संस्था के नियमों के अनुसार मेरे लिए जो तय होगा मैं उसे खुशी-खुशी स्वीकार करूँगा।

(४) मेरे आश्रित व्यक्तियों की संस्था जैसी कुछ व्यवस्था करेगी मैं उसी में सन्तुष्ट रहूँगा।

(५) मैं अपना व्यक्तिगत जीवन पवित्र रखूँगा।

(६) मैं अपना रहन-सहन और वेश-भूषा सादी बनाने का प्रयत्न करूँगा।

(७) मैं दूसरों की मान्यताओं का उदारतापूर्वक सम्मान करूँगा और ऐसा कोई काम नहीं करूँगा जिससे उनकी धार्मिक भावनाओं को धक्का लगे।

(८) मैं किसी के साथ द्वेष भावना नहीं रखूँगा।

निष्काम कर्मठ के सदस्यों की कार्यक्षमता, स्वावलम्बन वृत्ति और सेवा भावना तीव्र करने के लिए सप्ताह में एक दिन भिक्षा माँगने का क्रम भी चालू किया गया। ये लोग पूना जाकर संस्था के लिए भिक्षा माँगते थे और मुट्ठी-मुट्ठी भर चावल, आटा, दाल आदि इकट्ठा करके उसे संस्था के काम में लगाते थे। स्वयं कर्वे साहब और उनकी धर्म पत्नी आनन्दी बाई इस कार्य को उत्साहपूर्वक करते थे और जो कुछ भी मिलता उसी में सन्तोष मानते थे। निष्काम कर्मठ के सदस्यों में धीरे-धीरे वृद्धि हुई और तेजस्वी कार्यकर्ताओं की सेवा उसे प्राप्त होने लगी जिससे संस्था में नवीन जीवन का संचार होता हुआ दिखाई देने लगा।

आश्रम, निष्काम कर्मठ एवं महिला विद्यालय में तीन अलग-अलग संस्थाएँ थीं। अब इन तीनों को मिलाकर एक ही संस्था बना दी गई। सन् १९१५ में बम्बई में राष्ट्रीय कांग्रेस का अधिवेशन हुआ और इस अवसर पर आयोजित राष्ट्रीय सामाजिक परिषद की अध्यक्षता करने के लिए कर्वेजी से प्रार्थना की गई। कर्वेजी ने अपने भाषण में एक महिला विश्वविद्यालय की रूपरेखा पर प्रकाश डाला। यह रूपरेखा इतनी आकर्षक थी कि बहुत से लोगों ने उसकी प्रशंसा की। इससे प्रोत्साहित होकर सन् १९१६ में ही आश्रम को महिला विश्वविद्यालय का रूप देदेने का निश्चय कर लिया गया। यह एक बहुत बड़ा काम था। इसके लिए वे गुजरात, मद्रास, बंगाल, संयुक्त प्रान्त, पंजाब आदि प्रान्तों में घूमें और सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न किया। शीघ्र ही जून मास में डा० भाण्डारकर की अध्यक्षता में महिला विश्वविद्यालय की सीनेट की बैठक हुई। इस बैठक मे ११ सदस्यों की एक सिंडिकेट बनाई गई तथा रजिस्ट्रार का कार्य कर्वे साहब को सौंपा गया। यद्यपि यह एक बहुत बड़ा काम था और इसमें बहुत रुपयों की आवश्यकता थी तथापि अब कर्वे साहब की कार्य-कुशलता, सेवा भावना और त्यागवृत्ति की प्रसिद्धि भी चारो ओर हो गई थी जिससे सहायता प्राप्त करने में कठिनाई नहीं हुई। पहिले जहाँ मुट्ठी-मुट्ठी भर अनाज इकट्ठा किया जाता था वहाँ अब अपने आप हजारों, लाखों रुपये की सहायता आ जाती थी। बहुत से सेठ साहूकार और धनीमानी व्यक्ति विश्वविद्यालय छात्रावास, ट्रेनिंग कालेज आदि की इमारतें बनाने के लिए रुपया देने को तैयार होगए और नई-नई इमारतें बनने लग गई। इस प्रकार की सहायता देने वालों में सर विट्ठलदास ठाकरसी, सेठ मूलराज खटाव, डा० लांडे आदि प्रमुख थे। अब उसका क्षेत्र भी बढ़ा और महाराष्ट्र, गुजरात तथा आसपास

के दूसरे प्रान्तों की कुछ संस्थाएँ भी उसके साथ जुड़ गईं। छः विधवा बहिनों के साथ झोंपड़ी में जिस संस्था का जन्म हुआ वह २५ वर्ष बाद ही इतना विशाल रूप धारण करने में समर्थ हो गई कि महाराष्ट्र ही नहीं देश के अन्य भागों की महिलाओं को भी उसका लाभ पहुँचने लगा और इस प्रकार लाभ प्राप्त करने वाली महिलाओं की संख्या हजारों पर पहुँच गई।

सन् १९२९ में जिनोवा में दुनिया के शिक्षक संघ एवं शिक्षण संघों के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन हुआ। कर्वेजी को भी इसका निमन्त्रण मिला और महिला विश्वविद्यालय हिंगण ने उन्हें अपने प्रतिनिधि के रूप में भेजने का निश्चय किया। कर्वेसाहब यूरोप गये और वहाँ के भिन्न-भिन्न शहरों में यात्रा करके व्याख्यान देते रहे। उनके व्याख्यानों का यूरोपीय जनता पर बड़ा अच्छा असर पड़ा। यूरोप की यात्रा के बाद उन्होंने अमेरिका की यात्रा की तथा अमेरिका की यात्रा के बाद चीन, जापान एवं अफ्रिका की। इन देशों में उन्होंने अनेक शिक्षण संस्थाओं को देखा और उसका लाभ अपने विश्वविद्यालय को दिया। अपनी यात्रा में उन्होंने जगह-जगह चन्दा भी एकत्र किया और महिला विश्वविद्यालय को उससे लगभग ४५ हजार रुपये का लाभ हुआ।

सौभाग्य से कर्वेसाहब अब भी हमारे बीच में हैं। वे अब १०१ वर्ष के हो चुके हैं किन्तु संयमी जीवन के कारण उनका स्वास्थ्य साधारणतः ठीक है। अब वे महिला विश्वविद्यालय का कोई कार्य प्रत्यक्ष रूप से नहीं करते हैं तथापि वे ही उसके सच्चे पथ-प्रदर्शक और संरक्षक हैं। उनके अनेक शिष्य, प्रशिष्य इस कार्य में जुटे हुए हैं और हम संस्था के द्वारा महिला समाज में शिक्षा का काम कर रहे हैं। संस्था की प्रगति की तीव्र इच्छा उनके मन में है। अपनी आत्मकथा के अन्त

में उन्होंने लिखा है—"आज भी मेरे मन में विद्यापीठ की प्रगति की तीव्र इच्छा विद्यमान है। यदि पुनर्जन्म की कल्पना में कोई सच्चाई हो तो मेरी प्रबल इच्छा है कि मैं बार-बार इस देश में जन्म लूँ और अपने स्वप्न को साकार होता हुआ देखूँ।"

पिछले वर्ष सन् १६५८ में भारत सरकार ने उन्हें सर्वोच्च राष्ट्रीय सम्मान प्रदान किया और 'भारत रत्न' की उपाधि से विभूषित किया। जीवन के सौ वर्ष पूरे करने के उपलक्ष में उनका शताब्दी समारोह भी इसी वर्ष सारे देश में मनाया गया। भारत सरकार ने इस अवसर पर डाक के विशेष टिकट निकाले और बम्बई में एक बहुत बड़ा उत्सव मनाकर कर्वे साहब का सम्मान किया। हमारे प्रधान मन्त्री पंडित जवाहरलाल नेहरू इस अवसर पर बम्बई गए और उस सभा मे भाषण देते हुए बोले—"मैं यहाँ आचार्य कर्वे का आशीर्वाद लेने आया हूँ।" इसमें सन्देह नहीं कि कर्वे साहब हमारे देश के ऋषि हैं। उनकी साधना किसी भी प्राचीन ऋषि की साधना से कम महत्व नहीं रखती। उन्होंने अपने खून-पसीने से भारत की महिलाओं की जीवन बेला को सींचा है और आज वह नई चेतना, नई शक्ति और नई बहार के साथ अपनी सौरभ चारों ओर फैला रही है। ऐसे महापुरुषों को पाकर कौन देश अपने को धन्य न मानेगा?

महात्मा गांधी

: १० :

महात्मा गांधी

एक छोटा सा कृशकाय मनुष्य, जिसकी आँखें बड़ी-बड़ी और आगे को निकली हुई हैं, जिसका शरीर मोटे सफेद कपड़े से ढका हुआ है और पाँव नंगे हैं; जो चावल और फलों पर जीवित है और केवल पानी पीता है, जो फर्श पर सोता है, सोता भी बहुत थोड़ा है और निरन्तर काम करता रहता है, जो शरीर की रत्ती भर भी परवाह नहीं करता, जिसमें कोई विशेष ध्यान देने योग्य बात नहीं है—हाँ, उसका सारा रूप अनन्त धैर्य और अनंत प्रेम का सूचक है...वह बच्चों की तरह सरल है। वह जब विरोधियों का मुकाबला करता है, तब भी विनय और शिष्टाचार को नहीं छोड़ता और सच्चाई का तो वह मानो मूर्तरूप ही है...यह है वह मनुष्य जिसने तीस करोड़ देशवासियों को विद्रोह के लिए खड़ा कर दिया है, जिसने ब्रिटिश साम्राज्य की जड़ों को हिला दिया है और जिसने मनुष्यों की राजनीति में गत दो हजार वर्षों की धार्मिक भावनाओं का प्रवेश करा दिया है।

गांधी जी युग पुरुष थे। वे भारत नहीं एशिया की जाग्रति के प्रतीक थे। उनके व्यक्तित्व में योद्धा की निर्भयता, विद्वान की प्रखरता, साधक की निष्ठा, तपस्वी की तेजस्विता एवं भक्त की विह्वलता का ऐसा सुन्दर समन्वय हुआ था कि दुनिया के इतिहास में उसका कोई सानी नहीं है। अपने इन गुणों के कारण उन्होंने भारत के एक पूरे युग को प्रभावित किया। वे जिधर मुड़े समूचा भारत उधर मुड़ा और उन्होंने जिधर देखा उधर सारे भारत की आँखें लग गईं। इसीलिए

भारतवासी उन्हें राष्ट्रपिता कहते हैं और इसीलिए दुनिया सत्य अहिंसा का देवदूत मानकर पूजा करती है।

गांधी जी का जन्म २ अक्टूबर सन् १८६९ में सौराष्ट्र के पोर-बन्दर नामक स्थान में हुआ था। उनके पिता कर्मचन्द गांधी वैष्णव वैश्य थे और पोरबन्दर एवं राजकोट रियासतों के दीवान थे। बाल्या-वस्था में उन्होंने कुसंगति में पड़कर माँस खा लिया और जब इस प्रकार की बातों में कर्ज हो गया तो उसे चुकाने के लिए अपने सोने के कड़े का एक टुकड़ा बेच दिया। इतनी बड़ी भूल तो उनसे हो गई किन्तु मन में वह भूल निरन्तर चुभती रही और उन्होंने शीघ्र ही सारी बातें पत्र में लिखकर पिताजी को बता दीं और सच्चे मन से उसके लिए पश्चा-ताप किया। उनकी सत्य-प्रियता निरन्तर बढ़ती ही गई और उसके लिए बड़ा से बड़ा कष्ट सहने के लिए वे सदैव तैयार रहे। कहा जाता है कि एक बार जब वे राजकोट में पढ़ रहे थे तब एक अंग्रेज इन्सपेक्टर स्कूल का निरीक्षण करने आया। उसने अंग्रेजी में कुछ शब्द लिखायें। मोहनदास ने एक शब्द के हिज्जे गलत लिख दिये। अध्यापक कक्षा में घूम रहा था। उसने मोहनदास को इशारा किया कि वे सामने वाले लड़के की स्लेट देखकर अपने हिज्जे ठीक कर लें। किन्तु मोहनदास को नकल करना पसन्द न आया। पीछे से अध्यापक ने उन्हें डाटा फटकारा पर उन्होंने अपनी आत्मा की आवाज को ही महत्व देना ठीक समझा।

तेरह वर्ष की आयु में उनका विवाह कस्तूरबा के साथ हो गया। पिता ने विवाह बड़ी धूम-धाम से किया। किन्तु जब वे कुछ होशियार हुए और सन् १८८७ में उन्होंने मैट्रिक पास किया तो पिताजी की मृत्यु हो गई थी। घर का सारा उत्तरदायित्व उनके बड़े भाई लक्ष्मीदास जी पर आ गया। वे राजकोट में वकालत कर रहे थे। उन्होंने यह तय किया कि मोहनदास को कानून के अध्ययन के लिए विलायत भेजा

जाय। किन्तु मा बड़ी धर्मनिष्ठ थी। वे यह कैसे सहन करती कि लड़का विलायत जाकर धर्मभ्रष्ट हो जाय। अतः उन्होंने गांधी जी से तीन प्रतिज्ञाएँ करवाई—(१) शराब न पीना। (२) मांस न खाना। (३) पराई स्त्री को मा के बराबर समझना। गांधी जी इंग्लैण्ड गये और कानून का अध्ययन प्रारम्भ किया। सन् १८८७ से १८९१ तक वे इंग्लैण्ड रहे और बैरिस्टरी पास करके भारत लौटे। इंग्लैण्ड में रहते हुए उन्होंने तीनों प्रतिज्ञाओं का पूरा पालन किया। इंग्लैण्ड में ही उन्होंने गीता का अध्ययन किया तथा रस्किन, थोरो, टाल्सटाय आदि विद्वानों की रचनाओं से प्रेरणा प्राप्त की। इन रचनाओं ने उनके विचारों में क्रान्ति की।

भारत लौटकर उन्होंने वकालत प्रारम्भ की किन्तु सफलता न मिली। इन्हीं दिनों एक मुवक्किल ने उन्हें पैरवी के लिए दक्षिण अफ्रीका भेजा। मुकदमे की पैरवी करते हुए उन्होंने देखा कि दक्षिण अफ्रीका मे भारतीय लोगों के साथ बड़ा बुरा व्यवहार किया जाता है तथा उन्हें अपमानपूर्ण जीवन बिताना पड़ता है। इस स्थिति से उन्हें बड़ा क्षोभ हुआ। उन्होंने दक्षिण अफ्रीका में रहकर वहाँ के काले कानूनों का विरोध करने का निश्चय किया। यहीं शान्तिमय प्रतिकार या सत्याग्रह का जन्म हुआ। उन्होंने नेटाल इन्डियन कांग्रेस नामक संस्था की स्थापना की तथा उसके द्वारा अपने भारतीय भाइयों को शिक्षित एवं संगठित बनाकर अपने अधिकारों की रक्षा करने के लिए खड़ा किया। उन्होंने एक लम्बे अर्से तक रंग भेद की नीति के विरुद्ध डट कर मोर्चा लिया। दक्षिण अफ्रीका की गोरी सरकार ने उनको जेल भेजा तथा अनेक कष्ट दिये किन्तु उसके इस अत्याचार के विरुद्ध चारों ओर से आवाज उठी। यहाँ तक कि भारत के गोरे वाइ-सराय लार्ड हार्डिंग तक ने अपने एक भाषण में भारतीय लोगों का

पक्ष लिया। आखिर जनरल स्मटस को झुकना पड़ा। गांधी जी तथा अन्य नेता मुक्त किये गये। सारी शिकायतों की जाँच के लिए एक आयोग बना और सन् १९१४ मे गांधी स्मटस समझौते के नाम से एक समझौता हुआ जिससे भारतीय लोगों की बहुत सी कठिनाइयाँ हल हो गईं। गांधी जी के सत्याग्रह की यह पहिली और महत्वपूर्ण विजय थी।

इसके बाद भारत आये। यहाँ आकर उन्होंने एक वर्ष तक देश की स्थिति का अध्ययन किया। भारत में उनके सत्याग्रह का श्रीगणेश बिहार प्रान्त के चम्पारन जिले से हुआ। चम्पारन जिले के किसान निलहे गोरों के अत्याचार से पीड़ित थे। वे किसानों को अपनी जमीन के ३/२० भाग में नील बोने के लिए विवश करते थे। गांधी जी ने इस अन्याय के विरुद्ध लड़ाई छेड़ दी। उन्होंने सरकारी अधिकारियों की धमकियों से बिना डरे मामले की तहकीकात प्रारंभ की और किसानों पर होने वाले अत्याचारों का अन्त करा दिया। इसके बाद तो उनका सारा जीवन अंग्रेजों की स्वेच्छाचारिता से लड़ते-लड़ते बीता।

चम्पारन के बाद अहमदाबाद के मिल मजदूरों ने उन्हें पुकारा। उनकी शिकायत यह थी कि मिल-मालिक मजदूरी कम देते हैं और काम अधिक लेते हैं। गांधी जी ने मजदूरों की माँग का समर्थन किया। पहले तो मिल-मालिक अपनी जिद्द पर जमे रहे किंतु गांधी जी ने उपवास करने का निश्चय कर लिया तो वे घबरा उठे। उन्होंने पंच फैसले को मानना स्वीकार कर लिया और इस प्रकार समस्या हल हो गई।

भारतीय राजनीति में गांधी जी को लाने का श्रेय रौलट एक्ट नामक एक काले कानून को है। पहिले महायुद्ध के समय अंग्रेज सरकार ने भारतवासियों से सहायता की माँग की थी और कहा था कि उसके बदले में वे उन्हें अच्छे राजनैतिक अधिकार देंगे। इन सब्ज बागों में भूलकर भारत ने धन जन से उनकी इतनी सहायता की कि इंग्लैण्ड

तक से उसकी बड़ी प्रशंसा हुई। स्वयं गांधी जी जैसे लोगों ने भी इस सहायता कार्य में भाग लिया किन्तु जब लड़ाई समाप्त हुई तो इस सबका पुरस्कार मिला रौलट एक्ट के रूप में। इस कानून के द्वारा नये अधिकार देना तो दूर भारतीय जनता की रही सही स्वतन्त्रता का भी अपहरण किया जाने लगा। गांधी जी के लिए इसको सहन करते रहना कठिन हो गया। उन्होंने देश से अपील की कि इस कानून के प्रति विरोध प्रकट करने के लिए ६ अप्रेल सन् १९१९ को देश भर में हड़ताल रखी जाय। इस अपील का उत्साह से स्वागत हुआ और देश भर में उस दिन हड़ताल रही। सरकार चिढ़ी और भारतीय स्वतंत्रता के संग्राम को उसकी बाल्यावस्था में ही कुचल देने का उपाय सोचने लगी।

१३ अप्रेल के दिन अमृतसर के जलियां वाले बाग में बैशाखी पर्व के सम्बन्ध में नव वर्ष का मेला लगा। सैंकड़ों स्त्री, पुरुष और बालक इसमें सम्मिलित हुए। मेले में कुछ व्याख्यान भी हुए। पंजाब सरकार ने जनता को आतंकित करने के लिए इस छोटी सी बात पर ही बड़ा से बड़ा कदम उठा लिया। जनरल ओडायर ने निहत्थी भीड़ को रोक कर उस पर गोली चला दी। सैकड़ों व्यक्ति मरे और घायल हुए। इस अत्याचार ने जनता में विद्रोह की आग भड़का दी। जगह-जगह सभाएँ और भाषण होने लगे। सरकार ने उन्हें रोकने के लिए सारे पंजाब में फौजी कानून लागू कर दिया तथा अपना दमन-चक्र पूरी तेजी के साथ चला दिया। जनता उत्तेजित होती जा रही थी। गान्धी जी ने स्थिति को संभालने के लिए सत्याग्रह स्थगित करवा दिया।

इधर खिलाफत के प्रश्न को लेकर भारतीय मुसलमान भी अंग्रेज सरकार से असन्तुष्ट हो गये थे। गांधी जी ने उनका समर्थन करके अंग्रेजों के विरुद्ध एक सम्मिलित मोर्चा बनाया। सन १९२० की

कलकत्ता कांग्रेस में उन्होंने जनता को असहयोग की प्रेरणा दी। उन्होने कहा कि अंग्रेज सरकार हम भारतीय लोगों के सहयोग से ही यहाँ टिकी हुई है। यदि हम लोग अपना सहयोग रोक दें तो वह निर्जीव बन जायगी। इस दृष्टि से उन्होंने वकीलों को वकालत छोड़ने, विद्यार्थियों से स्कूल कालिज छोड़ने तथा जनता से विदेशी माल का बहिष्कार करने की अपील की। उनकी इस योजना का भी चारों ओर स्वागत हुआ तथा आन्दोलन प्रारंभ हो गया। दुर्भाग्य से चोराचोरी नामक स्थान में लोगों ने गुस्से में भरकर थाने को जला दिया और थानेदार तथा कई सिपाहियों को आग की लपटों की भेंट कर दिया। इस हिंसात्मक कार्य से गांधी जी को बड़ा आघात लगा। वे नहीं चाहते थे कि इस प्रकार के हिंसात्मक कार्य हों जिनमें अंग्रेज सरकार को निहत्थी जनता पर कड़ा से कड़ा अत्याचार करने का अवसर मिल जाय। अतः उन्होंने आंदोलन रोक दिया।

गांधी जी ने जब चोराचोरी के हत्याकान्ड के कारण असहयोग आन्दोलन को रोक दिया तो सरकार को अच्छा मौका मिल गया। उसने गांधी जी पर मुकदमा चलाकर उन्हें जेल में डालने का प्रयत्न किया। उन्हें गिरफ्तार कर लिया और मुकदमा चलाया। गांधी जी ने न कोई वकील किया न गवाह पेश किया। उन्होंने केवल एक वक्तव्य दिया जिसमें बताया कि वे एक राजभक्त होते हुए भी राजद्रोही क्यों बन गये। उन्होंने अपने ऊपर लगाये गये आरोपों को स्वीकार कर लिया और अन्त में जज से कहा कि वह उन्हें कड़ी से कड़ी सजा दे। जज ने फैसला सुनाते हुए कहा—

"इस अवसर पर न्यायोचित सजा का निर्णय करना इतना कठिन है जतना शायद ही कभी इस देश के जज के सामने आया हो। कानून व्यक्तियों की परवाह नहीं करता फिर भी इस बात से इन्कार करना असंभव है कि

जितने व्यक्तियों के मुकदमे मुझे अब तक करने पड़े हैं या करने पड़ेंगे उस सबसे आपका मुकदमा भिन्न है—आपकी श्रेणी अद्वितीय है। इस तत्थ्य से भी इन्कार करना असंभव है कि अपने करोड़ों देश-वासियों की निगाह में आप एक महान देश भक्त और महान नेता हैं।"

जज ने उन्हें छः वर्ष की सजा दी और कहा "यदि सरकार बाद मे इस दण्ड को घटाना उचित समझे तो मुझसे अधिक प्रसन्न कोई न होगा।"

२० मार्च १६२२ को गांधी जी जेल भेजे गये और १२ जनवरी १६२४ को 'अपेण्डिसाइटस' के आपरेशन के लिए हस्पताल में भेज दिये गये। आपरेशन सफल हुआ और उसके बाद मुक्त कर दिये गये। मुक्त होने के बाद उन्होंने देखा कि एक ओर तो देश में साम्प्रदायिक दंगों की आग भड़क उठी है और दूसरी ओर कांग्रेस के अन्दर ही कौन्सिल प्रवेश के प्रश्न को लेकर दो दल बन गये हैं। उन्होंने स्वराज्य पार्टी से समझौता करके कांग्रेस के अन्दर की फूट को समाप्त कर दिया और दिल्ली में जाकर २१ दिन का उपवास करके साम्प्रदायिकता की भावना पर भी कड़ी चोट की। उनके उपवास का यह प्रभाव पड़ा कि दिल्ली में देश के बड़े-बड़े नेताओं का एक सम्मेलन हुआ जिसमें सबने यह अश्वासन दिया कि वे भविष्य में इन दंगों को रोकने का भरसक प्रयत्न करेंगे।

१६२५ में वे कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गये। वैसे तो सन् १६२६ से ही कांग्रेस उनके आदेश पर चल रही थी किंतु इस बार उन्हीं को सभापति का सम्माननीय पद दिया गया। अध्यक्ष पद ग्रहण करके गांधी जी ने एक वर्ष तक देश का दिनरात दौरा किया और चारों ओर जाग्रति की लहर दौड़ादी। इसके बाद उन्होंने एक वर्ष तक अपना समय रचनात्मक कामों के विकास में लगाया। इसी समय सूचना

मिली कि सायमन कमीशन भारत आ रहा है। गांधी जी ने उसका विरोध करने का आदेश दिया और सारे देश में जहाँ कहीं कमीशन गया 'सायमन लौट जाओ' के नारे लगाये गये। जगह-जगह उसे काले झण्डे दिखाये गये और किसी ने भी उसके सामने गवाही देना स्वीकार नहीं किया।

सन् १६२६ में लार्ड इरविन की घोषणा के अनुसार लन्दन में भारतीय नेताओं की एक गोलमेज कान्फ्रेन्स हुई जिसमें कांग्रेस के एकमात्र प्रतिनिधि के रूप में गांधी जी ने भाग लिया। किंतु जब इस कान्फ्रेन्स में कोई निर्णय न हो सका तो गांधी जी ने सत्याग्रह करने का निश्चय किया। इस सत्याग्रह का श्री गणेश उन्होंने बड़े नाटकीय ढग से किया। वे १२ मार्च सन् १६३० को अपने ७८ अनुयायियों के साथ साबरमती आश्रम से समुद्र तट की ओर पैदल यात्रा करते हुए चले। यह यात्रा क्या थी क्रान्ति का आह्वान था। वे जगह-जगह क्रान्ति का मन्त्र फूंकते हुए समुद्र किनारे पहुँचे और वहाँ नमक कानून तोड़ा। सरकार ने ४ मई को उन्हें गिरफ्तार कर लिया। अब तो सारे देश भर में नमक बनाया जाने लगा और जगह-जगह नमक कानून तोडा जाने लगा। सरकार ने फिर गोलमेज कान्फ्रेन्स का नाटक किया किंतु इस बार कांग्रेस ने अपना कोई प्रतिनिधि नहीं भेजा। परिणाम यह हुआ कि कान्फ्रेन्स असफल रही। इसके बाद सन् १६३१ के प्रारंभ में कान्फ्रेन्स लन्दन में बुलाई गई। कांग्रेस ने गांधी जी को ही अपने प्रतिनिधि के रूप में लन्दन भेजा। कान्फ्रेन्स क्या थी भानुमति का पिटारा थी। सरकार ने भिन्न-भिन्न विचार के लोगों को इकट्ठा करके यही प्रकट करना चाहा था कि भारतीय स्वयं किसी प्रश्न पर एक मत नहीं है। गांधी जी शासन के पूरे अधिकारों की माँग पर दृढ़ रहे। कान्फ्रेन्स फिर असफल रही।

लन्दन से छोड़ते ही गांधी जी ने अहिंसक सत्याग्रह संग्राम छेड़ दिया। यह संग्राम काफी समय तक चलता रहा। इस संग्राम को छेड़ते समय सबसे पहले उन्होंने वाइसराय को सूचना दी। वाइसराय ने उन्हें गिरफ्तार कर लिया। उनकी गिरफ्तारी से देश भर में रोष की लहर फैल गई जगह-जगह सविनय कानून भंग का आन्दोलन छिड़ गया। पुरुष ही नहीं महिलाएँ और बालक भी आन्दोलन में शामिल हुए और जेल गए।

इधर १७ अगस्त सन् १९३२ को इंग्लैण्ड के प्रधान मंत्री ने साम्प्रदायिक समस्या पर फैसला दिया। इसके अनुसार अछूतों को भी मुसलमानों की ही भाँति पृथक् निर्वाचन का अधिकार दे दिया गया था। उनका अभिप्राय यह था कि अछूत हिन्दुओं से हमेशा के लिए अलग हो जायँ। गांधी जी ने यह फैसला जेल में पढ़ा। उन्हें इससे बड़ा आघात लगा। इसका विरोध करने के लिए उन्होंने २० सितम्बर के दिन से आमरण अनशन करने की घोषणा कर दी। इस उपवास ने भारत ही नहीं इंग्लैण्ड में भी जबरदस्त हल-चल पैदा कर दी। भारत के नेताओं ने गांधी जी के साथ मिलकर एक समझौता किया और अन्त में ब्रिटेन के प्रधान मंत्री को भी उसे मान लेने के लिए विवश होना पड़ा। उद्देश्य पूरा होजाने पर सात दिन बाद उन्होंने उपवास तोड़ दिया।

मई सन् १९३३ में गांधी जी ने आत्म-शुद्धि के लिए २१ दिन का उपवास किया। सरकार ने परिस्थिति की गंभीरता को ध्यान में रख-कर उन्हें मुक्त कर दिया। मुक्त हो जाने पर उन्होंने अपना पूरा समय हरिजनों के कष्टों को दूर करने तथा दरिद्रनारायण की सेवा में लगाया। यह कार्य वे एक लम्बे अर्से तक करते रहे। उन्होंने खादी, ग्रामोद्योग, अस्पृश्यता निवारण, साम्प्रदायिक एकता, बुनियादी तालीम, आर्थिक

समता आदि रचनात्मक कार्यों में अपनी पूरी शक्ति लगाई तथा देश को नए ढंग से बनाने का यत्न किया।

सन् १९३९ में दूसरा महायुद्ध छिड़ा। गांधी जी ने उसमें अंग्रेजों की मदद करने से साफ इन्कार कर दिया। उन्होंने देश के सभी कांग्रेसी मन्त्री-मण्डलों को स्तीफा देने के लिए कहा। मंत्री-मण्डल स्तीफा देकर मैदान में आगये। सबसे पहिले उन्होंने व्यक्तिगत सत्याग्रह प्रारंभ किया जो अहिंसक ढंग से चलता रहा। किंतु जब युद्ध की स्थिति विकट होने लगी और लड़ाई भारत के द्वार तक आती हुई दिखाई दी तो उन्होंने देश को लड़ाई के लिए तैयार किया। ९ अगस्त १९४२ के दिन बम्बई में प्रसिद्ध भारत छोड़ो आन्दोलन प्रारंभ हुआ। सरकार ने सारे नेताओं को गिरफ्तार कर लिया। जनता पर इसका बहुत बुरा असर हुआ। अभी तक गांधी जी जिस क्रोध और प्रतिहिंसा को रोके हुए थे वह भड़क उठी। देशभर में रोष का ज्वालामुखी फूट पड़ा। जगह-जगह मारकाट और आग की घटनाएँ घटने लगीं। कहीं रेलवे लाइन तोड़ दी गई तो कहीं पोस्ट-आफिस जला दिये गए। कई स्थानो पर तो जनता की सरकार भी कायम करली गई जो कुछ दिनों काम करती रही। सरकार ने इसे दबाने के लिए दमन-चक्र चला दिया। उसने गोलियाँ और लाठियाँ तो बरसाई ही बम तक बरसाये। किंतु वह आन्दोलन को पूरी तरह दबा न सकी।

इस बार जेल-यात्रा में गांधी जी को दो बड़े-बड़े आघात सहने पड़े। पहिला था उनके सेक्रेटरी श्री महादेव भाई की मृत्यु और दूसरा था श्रीमती कस्तूरबा का देहावसान। महादेव भाई गांधी जी के सहायक थे और उनके सेक्रेटरी का काम बड़ी निष्ठा और परिश्रम से पिछले कितने ही वर्षों से करते आ रहे थे। हृदय की गति रुक जाने से अचानक उनका देहावसान हो गया और बा उनकी जीवन-संगिनी ही थी

उसने उनके तपस्वी जीवन में सदैव छाया की तरह साथ रहकर योग दिया था। उनकी मृत्यु पर उन्होंने कहा था—"बा के बिना जीवन की मैं कल्पना ही नहीं कर सकता। उनकी मृत्यु से जो जगह खाली हुई है वह कभी नहीं भरेगी। हम दोनों ६२ वर्ष तक साथ रहे और वह मेरी गोद में मरी। इससे अच्छा क्या हो सकता है? मैं बेहद खुश हूँ।"

कुछ दिनों बाद १९४४ में सरकार ने उन्हें तथा अन्य नेताओं को छोड़ दिया। बस यही उनकी आखरी जेल यात्रा थी। अब तक कुल मिलाकर वे भारत की जेलों में २०८९ दिन रहे तथा दक्षिण अफ्रीका की जेलों में २४९ दिन। जेल से छूटकर वे हिन्दू-मुस्लिम एकता की तपस्या तथा इसी प्रकार की अन्य समस्याओं में लग गये। अब अंग्रेज सरकार भी यह अनुभव कर चुकी थी कि भारत को अधिक समय तक गुलाम बना कर रखा नहीं जा सकता। अतः उसने एक मंत्रीमण्डल मिशन भारतीय नेताओं से बातचीत करने के लिए भेजा। बातचीत चलती रही और केवल योजना के अनुसार २ सितम्बर १९४६ को पंडित जवाहरलाल नेहरू भारत की अन्तरिम सरकार के प्रधानमंत्री बने। देश का शासन भारतीय जनता के हाथ में आया। किंतु अभी साम्प्रदायिकता अपना सिर उठाये थी। इसी दिन श्री जिन्ना ने भारत के मुसलमानों को देश भर में मातम दिवस मनाने के लिए कहा। श्री जिन्ना की इस घातक नीति से जो आग लगी वह बंगाल प्रान्त के नोआखाली इलाके में पूरे वेग के साथ फूटती दिखाई देने लगी। वहाँ बहुत से हिन्दू मारे गए और धन-जन सभी को अपार क्षति पहुँचाई गई। कहीं बलात्कार किये गये, कहीं मकान जलाये गये, कहीं मंदिर जलाये गये, कहीं जबरदस्ती लोग मुसलमान बनाये गये। श्री जिन्ना और उनकी मुस्लिम लीग ने को ताक में रखकर घृणित से

घृणित कार्य करने में संकोच नहीं किया। गांधी जी बड़े उद्विग्न हुए। इस घृणा और वैमनस्य का मुकाबला अपने हृदय के संपूर्ण स्नेह और औदार्य से करने के लिये वे नोआखाली गये और जगह-जगह पैदल यात्रा करते हुए प्रेम का संदेश देते रहे। उनके इस कार्य का भारत ही नहीं दुनिया के लोगों पर आश्चर्यजनक प्रभाव हुआ। नोआखाली के मुसलमान उनकी शान्तिप्रियता औदार्य और उच्चाशयता से प्रभावित हुए बिना न रह सके। वहाँ के अमानुषिक हत्याकाण्ड बन्द हो गये, वातावरण शान्त बनने लगा और पुरानी स्थिति लौटने लगी।

इधर नोआखली काण्ड की प्रतिक्रिया बिहार में हुई। वहाँ २५ अक्टूबर को नोआखाली दिवस मनाया गया। कुछ धर्मान्ध हिन्दुओं ने क्रोधित होकर नोआखाली का बदला लिया। गांधी जी को इससे बड़ा आघात हुआ। इधर मुस्लिम लीग अपनी माँग पर तुली हुई थी। वह पाकिस्तान की मांग से बिलकुल पीछे हटने को तैयार नहीं थी। परिणाम यह हुआ कि भारतीय नेताओं ने पाकिस्तान की माँग स्वीकार कर ली और देश दो टुकड़ों में बँट गया।

गांधी जी इस विभाजन के विरोधी थे। किन्तु जब एक ओर गवर्नर जनरल लार्ड माउन्टबेटन तथा दूसरी ओर काँग्रेस के नेताओं ने विभाजन को ही समस्या का एकमात्र हल बताया तो गांधी जी को भी विवश होकर मानना पड़ा। इस प्रकार १५ अगस्त १९४७ को भारत स्वतंत्र हो गया। किन्तु विभाजन का मूल्य चुकाकर जो स्वतन्त्रता प्राप्त की गई वह बहुत ही मेंहगी पड़ी। उससे पाकिस्तान में हिन्दुओं पर और हिन्दुस्तान में मुसलमानों पर जो मुसीबत के पहाड़ टूटे तथा सामूहिक हत्या आग अपहरण, बलात्कार आदि नृशंस कृत्यों के जो गये नाच हुए, इतिहास में उनका सानी नहीं मिलेगा लगभग

एक करोड़ व्यक्ति इस नृशंसता के शिकार हुए।

गांधी जी इस सब से बड़े विक्षुब्ध हुए और इस आग को शान्त करने के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान भागते रहे। उन्होंने कलकत्ता मे जान की बाजी लगाकर इस आग को शान्त किया तो वह दिल्ली मे भड़क उठी। अब दिल्ली में उन्होंने उपवास प्रारम्भ कर दिये और कहा कि जब तक शान्ति स्थापित नहीं होगी उनका उपवास चलता रहेगा। क्रोध में पागल लोग अपने आप को पहिचानने लगे और देखने लगे कि वे कितने भटक गये हैं। वहाँ भी शान्ति होने लगी और गांधी जी ने अपना उपवास तोड़ा।

इस प्रकार अकेले गांधी जी इस चालीस करोड़ व्यक्तियों के देश मे अपनी श्रद्धा और आत्मबल के सहारे हिंसा 'घृणा' विद्वेष के भूत से लडते रहे। वे प्रतिदिन अपनी प्रार्थना सभाओं में शान्ति, प्रेम, सहिष्णुता दया और मानवता आदि का पावन सन्देश देते रहे। किन्तु अब ईश्वर उन्हें अपने पास बुला रहा था। ३० जनवरी १९४९ की संध्या को पाँच बज कर पाँच मिनिट पर वे दैनिक प्रार्थना में भाग लेने के लिये आये। इसी समय नाथूराम गोडसे नामक एक पथभ्रष्ट युवक आगे आया। वह उनके चरणों की ओर झुका। उपस्थित जन समुदाय ने समझा वह उनकी पावन चरण रज अपने मस्तक पर रखना चाहता है। किन्तु उस हत्यारे ने दूसरे ही क्षण अपनी जेब से रिवाल्वर निकाली और ठाँय-ठाँय तीन गोलियाँ उनके ऊपर छोड़ दीं। गोडसे ने अपने इस घृणिततम कृत्य से उनकी पावन चरण रज के स्थान पर कलंक की ऐसी कालिमा लगाली जो शायद अनेक जन्मों में भी नहीं धुल सकेगी। महात्मा जी ने उसे दया और क्षमा की दृष्टि से देखा तथा 'हे राम' कहकर धराशायी हो गये।

उनकी हत्या के समाचार से सारा विश्व स्तब्ध रह गया। भारत

तो जैसे शोक के महासागर में ही डूब गया। उनके अन्तिम दर्शन के लिये देश के कौने-कौने से अगणित नर-नारी उमड़ पड़े। उनका अन्तिम संस्कार राजकीय सम्मान के साथ हुआ और उनकी चिता के साथ साम्प्रदायिकता की घृणित करतूतें भी जलकर भस्म हो गई। वे मर कर भी शान्ति, सत्य और प्रेम की ज्योति जगमगा गये।

गांधी जी कोरे आदर्शवादी नहीं थे। वे एक व्यवहारिक विचारक थे। उन्होंने भारतीय समस्याओं को भारतीय दृष्टिकोण से देखा और उसी दृष्टिकोण से उसका हल ढूँढा। पुरातन-प्रियता और धार्मिकता उनके स्वभाव का अटल अंग बन गई थी। उन्हें भारतीय जीवन की सादगी और विनम्रता बड़ी प्रिय थी। उनका दृढ़ विश्वास था कि ईश्वर हम सब मानवों का पिता है अतः हम सबको समान रूप से जीवन बिताने और सुरक्षा प्राप्त करने का अधिकार है। मनुष्य स्वभाव की अच्छाई में उनका अटल विश्वास था। वे मानते थे कि मनुष्य अपनी उदात्त भावनाओं और कार्यों के द्वारा दुश्मन को भी मित्र बना सकता है। सत्याग्रह के रूप में उन्होंने अन्याय के प्रतिकार का एक ऐसा नवीन अस्त्र हमें दिया जो दोनों पक्षों के लिये हितकर है और दोनों ही पक्षों के कल्याण का साधक भी। वह एक ऐसा मार्ग है जो सबको सुख शान्ति और कल्याण की ओर ले जाता है।

गांधीजी कुछ तत्वों को अचल मानते थे तथा उनके आचरण पर जोर देते थे। वे कहते थे कि सभी समस्याओं का हल सत्य, अहिंसा और सेवा के द्वारा हो सकता है। उनकी मान्यता थी कि सत्य के उपासक को पूर्वग्रह से दूषित न होना चाहिये और सत्य को स्वीकार करने के लिए तैयार रहना चाहिये। हर प्रकार के अधर्म और अन्याय का मुकाबला पशुबल के स्थान पर आत्म बल से करना ही अहिंसा है। उनके अनुसार कायरों का अस्त्र नहीं है और न वह कोई निष्क्रिय

 मनो-

वृति हो सकती है। आजय द्यपि दुनिया में हिंसा का, पशुबल का बोल-बाला है तथापि वे अहिंसा में अपार शक्ति देखते थे। उनका कहना था कि अहिंसा के पास सारे बैर भाव शांत हो जाते हैं। सेवा को वे सत्य अहिंसा का एकत्र प्रयोग मानते थे। व्यवहारिक दृष्टि से सेवा के संबन्ध मे उनका यह कहना था कि यदि जनता की सेवा का कोई कार्य-क्रम प्रत्यक्ष रूप से न अपनाया जाय तो सत्य, अहिंसा पर बड़े-बड़े ग्रन्थ लिखना व्यर्थ है। इस प्रकार मानवहित संवर्धन के लिए वे सत्य, अहिंसा और सेवा पर बड़ा जोर देते थे।

एक और बात जिस पर गांधी जी जोर देते थे वह थी—साधन-शुद्धि। वे कहते थे कि यदि हमने पशुबल से स्वराज्य प्राप्त भी कर लिया तो वह सच्चा स्वराज्य नहीं होगा। वे देश में नैतिक और आध्यात्मिक शक्ति का विकास देखना चाहते थे। इस मार्ग में अंग्रेजी सरकार की गुलामी उन्हें सबसे बड़ी बाधा प्रतीत होती थी। अत: वे उसे सबसे पहिले मिटाना चाहते थे। उनका कहना था कि सही लक्ष पर पहुँचने के लिए साधन भी शुद्ध होने चाहिए। इसी विचार के कारण उन्होंने हमारे स्वतंत्रता संग्राम को जो कि एक राजनैतिक संघर्ष था अपनी आध्यात्मिकता से रंग दिया था। उनके आंदोलन की यही विशेषता थी। उनका आंदोलन किसी के प्रति घृणा या विद्वेष से प्रेरित होकर नहीं होता था वह तो समूची मानवता के उत्थान का प्रतीक था। वे कहते थे कि मेरी लड़ाई अंग्रेजों से नहीं, उनकी विषैली साम्राज्यवादी नीति से है।

गांधी जी ने अन्याय और अत्याचार से लड़ने का एक नया तरीका हमें दिया। वह तरीका था सविनय अवज्ञा आन्दोलन। उनका कहना था कि अंग्रेजों के अत्याचार की गाड़ी हमारे सहयोग से ही चल रही है। अतः हमें उसे अपना सहयोग देना बंद करदेना चाहिए। कानून भंग

करना, टैक्स देने से इन्कार करना, विदेशी कपड़ों की दूकान पर धरना देना आदि बातें ही उनके आंदोलन की प्रमुख अंग थी। उनके इन तरीकों ने सरकार की पोल खोल दी और उसे कमज़ोर बना दिया।

इस तरह हम देखते हैं कि गांधी जी ने भारतीय राष्ट्रीयता को मार्क्स के वर्ग संघर्ष वाले दर्शन से भिन्न वर्ग शान्ति का दर्शन दिया और सब वर्गों में पारस्परिक सद्भावना, सद्भावना की अभिवृद्धि पर जोर दिया। उनके त्याग, सेवा और निर्भयता के आदर्शों ने जनता को बडी प्रेरणा दी तथा उसमें नये जीवन का संचार कर दिया। यद्यपि एक राजनीतिज्ञ के रूप में उन्होंने हमेशा समझौते किये तथापि सत्य और अहिंसा के उपासक के रूप में उन्होंने कभी किसी से समझौता नहीं किया। यह निश्चय के साथ कहा जा सकता है कि वर्तमान युग में उनके जैसा महान व्यक्ति नहीं हुआ। वे सत्य अहिंसा और शान्ति के देवदूत थे। इस पृथ्वी पर रामराज्य की स्थापना करना ही उनका लक्ष था। उसी की साधना करते हुए वे जिये और उसी की साधना करते हुए बलिदान हुए।

आधुनिक युग के प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइन्स्टीन ने उनके सम्बन्ध मे ठीक ही लिखा है—

"अपने राष्ट्र का एक ऐसा महान नेता जिसे किसी भी बाह्य शक्ति की सहायता प्राप्त नहीं है, एक ऐसा राजनीतिज्ञ जिसकी सफलता न तो बुद्धि कौशल योजनाओं पर बल्कि महज अपने व्यक्तित्व की विश्वासोत्पादक शक्ति पर निर्भर है। समझदारी और नम्रता की साकार प्रतिमा, निश्चय और अविचल दृढ़ता के हथियारों से सुसज्जित एक ऐसा योद्धा जिसने सदैव पशु बल से घृणा की तथा अपनी सारी शक्ति राष्ट्र के उत्थान और कल्याण में लगा दी। एक ऐसा मनुष्य

जिसने यूरोप की पशुता का मुकाबला एक सीधे-सादे मानव प्राणी की भांति किया और इस कारण जो सदैव के लिए उससे ऊपर उठ गया।

हो सकता है कि आने वाली पीढ़ियाँ इस बात पर कठिनाई से विश्वास करें कि इस प्रकार का कोई रक्त मांस वाला पुरुष पृथ्वीतल पर उत्पन्न हुआ होगा।"

अलबर्ट आईन्स्टाइन

: ११ :

अलबर्ट आइंस्टाइन

विज्ञान योगी अलबर्ट आईन्स्टाइन का नाम किसने न सुना होगा ? वे हमारे युग के एक ऐसे अन्यतम दृष्टा थे जिनके भीतर विज्ञान और अध्यात्म का समन्वय हुआ था। आज की युद्ध विनाशग्रस्त दुनिया में वे केवल अणुशक्ति के अविष्कारक ही नहीं हुए, अणुबम से मानवता-मात्र की पुकार उठाने वाले महान शान्ति-दूत भी थे। उन्हें हमारे बीच से उठे हुए अभी २-३ वर्ष का ही समय हुआ है। वे विश्व की उन महान प्रतिभाओं में से थे जिन्होंने अपने अनुसंधानों से विज्ञान-जगत् मे क्रांति कर दी थी। यदि भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में प्राचीन युग को न्यूटन का युग कह दिया जाय तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि आधुनिक युग आईन्स्टाइन का युग कहना होगा।

आईन्स्टाइन का जन्म १४ मार्च १८७९ में जर्मनी के एक छोटे से स्थान उल्म (वुरटेम्बर्ग) में हुआ था। पिता ने उनका नाम अल्बर्ट रखा। वे विद्युत् रसायन की एक छोटी सी फेक्टरी चलाते थे। उनका नाम था हरमन आईन्स्टाइन। अल्बर्ट के जन्म के एक वर्ष बाद आईन्स्टा-इन परिवार म्यूनिख आ गया। यहूदी होने के कारण बाल्यकाल से ही आईन्स्टाइन को तिरस्कार के घूँट पीने पड़े। दस वर्ष की आयु तक उनमें किसी प्रतिभा के दर्शन नहीं हुए। विज्ञान के अलावा और किसी विषय में उनका मन ही नहीं लगता था। वे कक्षा में पिछड़े हुए रहते थे और सहपाठी उलटे-सीधे नाम रखकर उन्हें चिढ़ाया करते थे। उनकी वास्तविक शिक्षा पाठशाला के बजाय घर पर ही प्रारम्भ हुई।

उनके चाचा इन्जीनियर थे और वे ही समय निकालकर उन्हें थोड़ा-थोड़ा विज्ञान और गणित पढ़ाया करते थे।

उन दिनों जर्मनी में यहूदियों के विरुद्ध एक भयानक वातावरण बनता जा रहा था। नाज़ीवाद के बढ़ते हुए प्रभाव मे वहाँ ईसाइयों और यहूदियों के बीच भेदभाव और घृणा की बड़ी-बड़ी खाइयाँ बनाई जा रही थीं। इस प्रतिकूलता के वातावरण में अलबर्ट के पिता का उद्योग सन्तोषजनक रूप से नहीं चल सका। विवश होकर सन् १८६४ मे वे मिलान चले गये। अब अलबर्ट के सामने नई समस्या आ गई। अध्ययन के साथ जीविका का भी प्रश्न हल करना था। उन्होंने सन् १९०० में ग्रेजुएट होते ही नौकरी कर ली। सबसे पहले वे बर्न के पेटेन्ट आफिस में इन्सपेक्टर की जगह काम करने लगे। लेकिन यह काम उनकी रुचि का नहीं था। थोड़े ही समय बाद यहाँ का काम छोड़ कर वे ज्यूरिच चले गये और वहाँ ज्यूरिच विद्यापीठ में अध्यापक हो गये। सन् १९०९ तक वे यहीं रहे। इस विद्यापीठ में काम करते हुए ही सन् १९०५ में उन्होंने सापेक्षतावाद के सिद्धान्त की शोध की। इसके पूर्व भी उनका शोध कार्य चल रहा था और उन्होंने प्रकाश कणों के सम्बन्ध में नये-नये सिद्धान्त ढूँढ निकाले थे। इसी प्रकार उन्होंने पदार्थों की विशिष्ठ उष्णता के नियम तथा पानी या वायु में दौड़ने वाले अत्यन्त सूक्ष्मकणों का नियम भी ढूँढ निकाला था। बस इन शोध कार्यों ने शीघ्र ही उनको चारों ओर प्रसिद्ध कर दिया।

सन् १९१३ में बर्लिन विश्वविद्यालय के तत्कालीन प्रसिद्ध विज्ञान-वेता प्लेंक और नर्स्ट के आग्रह पर वे बर्लिन आ गये। सन् १९३३ तक वे यहाँ अध्यापक रहे। इस बीस वर्ष के समय में उन्होंने एक ओर अपनी शोधों से विज्ञान-जगत् में नया युग प्रारंभ किया और दूसरी ओर द्वेष, तिरस्कार आदि के नये-नये अनुभव किए। सन् १९३३ मे

जर्मनी के वातावरण से ऊबकर वे अमेरिका के प्रिस्टन विश्वविद्यालय मे भौतिकशास्त्र और गणित के अध्यापक होकर चले गए। इस पद पर वे सन् १९४५ तक रहे और अवकाश प्राप्त करने के बाद जीवन के शेष वर्ष प्रयोगशाला में बिताए। अभी सन् १९५५ में १८ अप्रेल के दिन ही वे स्वर्गवासी हुए हैं।

आईन्स्टाइन के सापेक्षतावाद के सिद्धांत ने वैज्ञानिक मान्यताओं की भित्ति हिला दी थी। पदार्थ की अवस्था स्पष्ट करनेवाले लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई के यामों (डाइमेन्शन्स) के साथ समय का याम भी इन्होंने जोड़ा। निर्विवाद रूप से वे इस युग के सब से बड़े विज्ञान-वेता थे। विद्वानों का कहना है कि उनकी कोटि के विचारक संसार में कम ही हुए हैं। भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में उनका सानी कोई हुआ ही नहीं। सन् १९०५ से लेकर जब कि उन्होंने सापेक्षतावाद का सिद्धांत ढूँढ निकाला था, सन् १९५५ तक जबकि उनकी मृत्यु हुई वे विज्ञान-जगत् पर छाये रहे।

आईन्स्टाइन की खोजों ने विज्ञान-जगत् में एक नया युग प्रारम्भ कर दिया। सापेक्षतावाद में लोग जनहित न खोज पाए अतः उस सिद्धांत को शीघ्र ही लोकप्रियता न मिल सकी। उनके क्वांटन सिद्धात को लोगों ने शीघ्र अपनाया। क्वांटन सिद्धांत में जनहित वाला स्वरूप भी स्पष्ट हुआ और फलस्वरूप सन् १९२२ में इसी सिद्धांत के लिए उन्हें नोबल पुरस्कार मिला। सापेक्षतावाद का जनहित वाला स्वरूप तो दुनिया के सामने उस दिन आया जब इस सिद्धांत को अपनाकर अन्य वैज्ञानिकों ने सन् १९४५ में अणुशक्ति को खोज निकाला।

इस प्रकार आईन्स्टाइन के सिद्धांतों के प्रकाश में ही अणुशक्ति को पहिचाना गया था। बाद में इसी अणुशक्ति से अणुबम का अविष्कार हुआ। लेकिन आईन्स्टाइन स्वयं सदैव युद्ध विरोधी रहे। सैनिक

शिक्षा से उन्हें गहरी नफ़रत थी। उन्होंने अन्त तक शांति का सन्देश दिया। वे कहते थे कि स्थायी शाँति डराने धमकाने से नहीं होती। वह तो पारस्परिक स्नेह और विश्वास की अभिवृद्धि से ही होती है। वे कहते थे कि युद्ध जीते जा सकते हैं लेकिन शांति जीती नहीं जा सकती। अपनी शांति-प्रियता के कारण ही वे कवीन्द्र-रवीन्द्र और महात्मा गांधी के प्रशंसक थे। भारत के स्वतन्त्रता संग्राम की भी उन्होंने इसी लिए सराहना की थी कि वह शांतिमय था।

आईन्स्टाइन बड़े सरल स्वभाव के व्यक्ति थे। उन्होंने कभी किसी का विरोध नहीं किया जबकि जीवन भर उनका विरोध करनेवालो की कोई कमी नहीं थी। यदि किसी से उनका समझौता नहीं हो सका तो वे चुपचाप उसके मार्ग से हट गये। वे अपने विचारों पर सदैव दृढ़ रहे। विचारों की असमता के कारण उन्होंने अपनी पहली पत्नी का परित्याग किया। और विचारों की समता के कारण ही एक दीन विधवा को अपनी दूसरी पत्नी बनाया जो बात वैज्ञानिक तथ्यों के विरुद्ध थी उसे उन्होंने कभी नहीं अपनाया।

व्यक्तिवाद और मौलिकता उनके दूसरे बहुत बड़े गुण थे। वे व्यक्तित्व को संसार में सबसे ऊँचा मानते थे और इसी कारण सदैव मौलिक रहे। उन्होंने विचारों में भी कभी किसी का आश्रय नही लिया। हर समस्या को, हर सिद्धांत को अपने ढंग से देखा और समझा। साधारण से साधारण वस्तु भी जिस पर उन्होंने अपने व्यक्तित्व का रंग चढ़ाया, निखर उठी।

आईन्स्टाइन में अहं की भावना तो जैसे थी ही नहीं। किसी के प्रति उनके मन में द्वेष की भावना भी नहीं पैदा हुई। अपने पूर्व-वर्ती वैज्ञानिक न्यूटन, केटलर आदि की प्रशंसा तो उन्होंने की ही, साथ ही अपने समकालीन मेक्स प्लेंक, नर्स्ट क्यूटी लेंग्विन आदि की भी

मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा की। इसी तरह परोपकार भी उनका स्वभाव ही बन गया था। जो भी उनके पास आता कुछ न कुछ लेकर ही लौटता था। वे निराश व्यक्ति में आशा और हारे-थके हुए व्यक्ति में आत्म-विश्वास पैदा करने का सदैव प्रयत्न करते रहते थे। विद्यार्थियों के लिए तो उनका दरवाजा हमेशा खुला रहता था। जब वे अमेरिका में प्रोफेसर थे तो एक बालिका ने उनसे गणित पढ़ाने के लिए कहा और वे उसे गणित पढ़ाने लगे। जब उसकी माँ को मालूम हुआ कि उसकी लड़की इतने बड़े विज्ञानवेता का समय ले रही है तो वह बड़ी परेशान हुई और उनके पास जाकर माफी माँगने लगी। उन्होंने मुस्कराकर उत्तर दिया—'बालिका मुझ से कम पढ़ती है। मैं ही उससे अधिक पढ़ता हूँ।'

प्रायः देखा जाता है कि बड़े—बड़े विचारक और विज्ञानवेता जीवन के अन्य क्षेत्रों में बड़े नीरस प्रमाणित होते हैं किन्तु आईन्स्टाइन वैज्ञानिक होने के साथ एक भावुक कलाकार भी थे। चाँदनी रात में नौका विहार उन्हें बड़ा अच्छा लगता था और घंटों तक नाव में बैठे हुए चाँदनी का आनन्द लेते रहते थे। वायलिन बजाने का तो उन्हें बड़ा शौक था। जब वे अकेले होते तो प्रायः वायलिन लेकर बजाने लगते और उसमें खो से जाते।

वे सरल, मिलनसार और शर्मीले स्वभाव के व्यक्ति थे। ठाट-बाट के जीवन से दूर सदैव ज्ञानोपासना में निमग्न रहते थे। सादगी में ही उन्हें अच्छा लगता था। अतः साधन होते हुए भी ज्यादा पैसा कमाकर ठाट-बाट से रहना उन्होंने कभी पसन्द नहीं किया। जब वे अमेरिका आये तो उनसे पूछा गया कि कितना वेतन उनके लिए पर्याप्त

सकेगा और उन्हें अधिक वेतन दिया। पैसे की ही तरह यश की भी उन्होंने कभी इच्छा नहीं की। बल्कि यह कहा जाय कि वे प्रसिद्धि से भागते थे तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। एक बार उन्हें कही भाषण देने के लिए बुलाया गया। जब उन्हें मालूम हुआ कि वहाँ उनका स्वागत बड़ी धूमधाम से होने वाला है तो एक स्टेशन पहिले ही उतर गये और अकेले ही सभा-स्थल पर पहुँच गये।

आइये अब हम संक्षेप में सापेक्षतावाद के सिद्धांत की मोटी-मोटी बातों को समझने का प्रयत्न करें। सापेक्षतावाद की कल्पना एक दम नई नहीं है। स्थिति सापेक्षता को तो हम पहले से ही जानते हैं। जब हमें किसी वस्तु का ठीक-ठीक स्थान बताना होता है तो हम यह बताते हैं कि वह किसी दूसरी निश्चित वस्तु से कितनी दूर या पास है। नक्शे में किसी स्थान की सही स्थिति जानने के लिए ही हमने अक्षांश और देशान्तर रेखाओं की कल्पना की है और इन दोनों की सहायता से किसी भी स्थान की सही स्थिति मालूम करना कठिन नहीं होता है। यह तो पृथ्वी पर स्थित किसी वस्तु की स्थिति ज्ञात करने की बात हुई। जब आकाश में स्थित किसी जगह का सही स्थान ज्ञात करना होता है तो वहाँ हमें लम्बाई व चौड़ाई के साथ-साथ ऊँचाई भी बतानी पड़ती है। यह पद्धति डेकार्ट ने शोध करके निकाली थी। जब कोई वस्तु एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाती है तो जाने में उसे समय लग जाता है। अतः स्थल और काल के गुणनफल को ही वेग कहते हैं। आप किसी भी पद्धति को अपनाइये। माने हुए किन्ही दो बिन्दुओं का अन्तर सदैव वही रहेगा। समय के अन्तर के बारे में भी यही नियम है। यदि आप किन्हीं दो घटनाओं के बीच का समय मालूम करना चाहें तो वह भी सदैव एक ही रहेगा। किन्तु जब हम यह कहते हैं कि अमुक वस्तु का वेग अमुक है तो वह किसी स्थिर वस्तु

की अपेक्षा से ही बताते हैं। उदाहरण के लिए यदि हम कहें कि रेल-गाड़ी चल रही है और उसकी गति २० या २५ मील प्रति घंटा है तो हम उसका वेग स्थिर स्टेशन, वृक्ष, मकान आदि की अपेक्षा से ही बताते हैं। लेकिन यदि हम पृथ्वी की अपेक्षा से मालूम होने वाली रेल की गति लेकर उसकी अपनी गति ही मालूम करने का यत्न करें तो क्या होगा ? पृथ्वी सूर्य के आस-पास घूमती है और सूर्य अपने सारे ग्रह उप-ग्रहों के साथ आकाश गंगा के मध्य केन्द्र के आसपास तेजी से घूमता है। ऐसी स्थिति में गाड़ी की अपनी निरपेक्ष गति इन सब गतियों की साधारण संख्या के बराबर ही होगी। परन्तु यह भी यहाँ बात तो मानी ही हुई है कि आकाश गंगा का मध्य बिन्दु भी स्थिर ही है। अतः स्पष्ट है कि पदार्थों की अपनी गति या यों कहिये कि सही गति हम मालूम नहीं कर सकते। सारी दृश्य गतियाँ किसी स्थिर पदार्थ की अपेक्षा से ही मालूम की जा सकती हैं। यदि हम पदार्थों की अपनी सही गति मालूम करना चाहते हैं तो हमें यह कल्पना करनी होगी कि सारे संसार में कोई पदार्थ स्थिर है। श्री आईन्स्टाइन के पहले यह माना जाता था कि वह विश्वव्यापी पदार्थ ईथर (आकाश) है।

ऐसी कल्पना की गई है कि प्रकाश अपने उद्गम स्थान से लहरों के रूप में सब दिशाओं में जाता है। लहरों के आने-जाने के लिए किसी माध्यम का होना जरूरी है। यदि प्रकाश दुनिया के प्रत्येक भाग में पहुँचता है तो यह आवश्यक है कि यह माध्यम भी विश्व व्यापी और स्थिर हो। इस माध्यम को ईथर कहा जाता है। किन्तु ईथर की अपेक्षा से नापी गई गति तभी पदार्थ की अपनी सही या निरपेक्ष गति कही जायगी जबकि ईथर सारे सौर मण्डल में व्याप्त हो। ऐसी स्थिति में यदि वास्तव में पदार्थों की कोई अपनी गति है तो उसे प्रयोगों की सहायता से नाप लेने में सफलता

मिलनी चाहिए थी। परन्तु इस सम्बन्ध में अनेक वैज्ञानिकों ने प्रयोग किये और वे इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि ईथर में पदार्थों की अपनी गति नहीं नापी जा सकती। इसी प्रकार उन्हें यह भी मालूम हुआ कि ईथर में किसी पदार्थ से निकलने वाले प्रकाश का अथवा उस पदार्थ तक आने वाले प्रकाश का कोई प्रभाव नहीं होता। इतना ही नहीं यह भी मालूम हुआ कि यदि किसी पृष्ठ भाग की गति स्थिर हो तो उस पर खड़े रहने वाले व्यक्ति को उसके बाहर की चीजें देखे बिना उसकी गति का भान ही नहीं होता। ऐसी स्थिति में जब किसी पदार्थ की अपनी सही गति नापना लगभग असंभवसा ही है तो फिर यह कहना कैसे ठीक हो सकता है कि उनकी अपनी सही गति है। आईन्स्टाइन ने यही सच्चाई बड़ी दृढ़ता के साथ लोगों के सामने रखी। उन्होंने कहा कि पदार्थों की निरपेक्ष गति कभी भी नापी नहीं जा सकती और जो गति हम नाप लेते हैं वह किसी दूसरे पदार्थ की अपेक्षा से ही नापते हैं। उनके इस सिद्धांत ने बहुत सी पुरानी मान्यताओं और कल्पनाओं को गलत सिद्ध कर दिया।

श्री आईन्स्टाइन ने दूसरी महत्व की शोध यह की कि गतिशील पदार्थ की लम्बाई गति की दिशा में बदलती है और गतिशील पदार्थ पर नापा हुआ कालान्तर भी दूसरे पदार्थ पर नापे हुए कालान्तर से भिन्न होता है। कल्पना कीजिये कि एक रेलगाड़ी तेज किन्तु स्थिर गति से एक स्टेशन के सामने से गुजर रही है। रेलगाड़ी में बैठे हुए लोगों को ऐसा प्रतीत होगा कि स्टेशन, वृक्ष, तार के खम्बे सभी विपरीत दिशा में भाग रहे हैं। आइये ! अब ऐसी कल्पना कीजिये कि एक व्यक्ति रेलगाड़ी के ठीक बीचोबीच बैठा है और कुछ प्रयोग कर रहा है। एन्जिन ड्रायवर तथा गार्ड दोनों ही उसके आगे-पीछे की दिशाओं मे समान-अन्तर पर हैं। वह एक दीपक जलाता है। उसे ऐसा लगेगा कि

उससे समान-अन्तर पर होने के कारण प्रकाश ड्रायवर और गार्ड दोनों के पास एक ही समय पर पहुँचा है। मतलब यह है कि उस व्यक्ति की दृष्टि से ड्रायवर और गार्ड को प्रकाश दिखाई देने की घटना में कोई अन्तर नहीं हुआ। आइये अब यह देखिये कि स्टेशन पर खड़े हुए व्यक्ति का अनुमान क्या होगा। उसे गाड़ी दौड़ती हुई दिखाई दे रही है। ड्रायवर आगे है और गार्ड पीछे, उसे ऐसा लगेगा कि बीच में जहाँ दीपक जलाया गया है वहाँ से ड्रायवर दूर आ रहा है और गार्ड उसके पास आ रहा है। अतः प्रकाश के उद्गम स्थान के पास पहुँचने वाले ड्रायवर को वह जल्दी दिखाई देगा तथा उससे दूर जाने वाले ड्रायवर को बाद में। मतलब यह है कि स्टेशन पर खड़े रहने वाले व्यक्ति को यह प्रतीत होगा कि ड्रायवर और गार्ड को प्रकाश दिखाई देने के समय में अन्तर रहा। इस प्रकार जहाँ गाड़ी में बैठे हुए व्यक्ति की दृष्टि में कोई कालान्तर नहीं पड़ा, वहाँ स्टेशन पर खड़े हुए व्यक्ति को कालान्तर की स्पष्ट प्रतीति हुई।

अब उपर्युक्त उदाहरण पर से यह कल्पना कीजिये कि ड्रायवर और गार्ड दोनों ने ज्यों ही प्रकाश देखा, अपने सामने प्लेटफार्म पर रंग डालकर निशान बना दिये। गाड़ी में बैठा हुआ आदमी यह समझेगा कि चूँकि दोनों व्यक्तियों ने प्रकाश एक ही समय देखा है, अतः निशान भी एक ही समय बनाये हैं। जबकि स्टेशन पर खड़े हुए व्यक्ति को यह प्रतीत होगा कि गार्ड को प्रकाश पहले दिखाई दिया और उसी ने पहले निशान बनाया। इसी प्रकार ड्रायवर को प्रकाश बाद में दिखाई दिया और उसने बाद में निशान बनाया। उन दोनों के द्वारा निशान लगाने में जो अन्तर हुआ उसमें गाड़ी कुछ आगे चली और इस प्रकार ड्रायवर और गार्ड के बीच जो अन्तर है उसकी अपेक्षा निशान का अन्तर अधिक होगा। सारांश यह कि समय के अन्तर

की तरह स्थान का अन्तर भी देखने वालों की परिस्थिति पर निर्भर रहता है। भौतिकशास्त्र के पुराने नियमों के अनुसार समय और स्थान की दूरी दृष्टा की परिस्थिति पर अवलम्बित नहीं थी। श्री आईन्स्टाइन की शोध ने इस पुरानी कल्पना को भी गलत सिद्ध कर दिया। श्री आईन्स्टाइन के मत से अब हमें यह मानना चाहिए कि स्थल और काल दो भिन्न और स्वतन्त्र वस्तुएँ नहीं हैं। वे दोनों एक ही स्थल कालात्मक अवकाश के दो रूप हैं। इस प्रकार सापेक्षतावाद ने स्थल काल की एकता सिद्ध करने के साथ-साथ वस्तु और शक्ति की एकता भी सिद्ध कर दी।

श्री आईन्स्टाइन ने गणित के आधार पर यह भी सिद्ध किया कि गति के कारण पदार्थों का वजन बढ़ जाता है और यह वृद्धि गति के कारण उत्पन्न होने वाली शक्ति के अनुपात में होती है। यह बड़ा महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। क्योंकि इस सिद्धान्त के अनुसार गतिशक्ति का रूपान्तर वजन में होता है और वजन बढ़ जाता है। इतना ही नही श्री आईन्स्टाइन ने सिद्ध किया कि वजन और शक्ति मूलत: भिन्न नही हैं। वे दोनों एक ही वस्तु के दो रूप हैं।

यह प्रश्न उठ सकता है कि किसी लोहे की चीज को खूब गरम करके यदि उष्णता रूपी शक्ति बढ़ादी जाय तो क्या सचमुच उसका वजन बढ़ जाता है ? पुराने जमाने के वैज्ञानिक इसे स्वीकार नहीं करते, क्योंकि उस समय प्रयोग से यह सिद्ध नहीं हो सकता था। परन्तु अब अत्यन्त सूक्ष्म प्रयोगों के द्वारा यह प्रसिद्ध हो गया है कि जबकोई विद्युत् कण बड़ी तेजी के साथ जाता है तो उसका वजन बढ़ जाता है। हमे वजन में जो वृद्धि दिखाई नहीं देती है उसका कारण तो यही है कि वजन की वह वृद्धि बहुत कम मात्रा में होती है और इसलिए उसका अपलोध करना कठिन हो जाता है। किन्तु जब शक्ति बहुत ज्यादा ब

जाती है तो वस्तु का वजन इतना ज्यादा बढ़ जाता है कि उसे नापना कठिन नहीं होता। इस सिद्धान्त के अनुसार शक्ति और वजन की एक-रूपता सिद्ध हो जाती है। फिर वस्तु का शक्ति में तथा शक्ति का वस्तु में रूपान्तर भी हो सकता है। और इस रूपान्तर से व्यवहारिक जगत् में काफी लाभ उठाया जा सकता है। प्रसन्नता की बात है कि श्री आई-न्स्टाइन के प्रयोगों से इस सिद्धान्त की सच्चाई प्रकट हो गई। अणुबम का आविष्कार इसी सिद्धान्त के आधार पर किया गया है। अतः हम एक प्रकार से आईन्स्टाइन को ही अणुशक्ति की गंगा को पृथ्वी पर लाने वाला भागीरथ कह सकते हैं।

न्यूटन और आईन्स्टाइन के युगों में एक मुख्य अन्तर यह है कि न्यूटन युग में न्यूटन ने तीन गति सिद्धांत तथा गुरुत्वाकर्षण के सिद्धांत की सहायता से ग्रहों की अचूक गति का ज्ञान संसार को दिया। उसकी बिजली और प्रकाश सम्बन्धी महान शोधों से ऐसा प्रतीत होने लगा कि हमें सृष्टि का सारा ज्ञान शीघ्र ही प्राप्त हो जायगा तथा इस जड़ सृष्टि के नियम दूसरी सृष्टियों पर भी लागू किये जा सकेंगे। किन्तु श्री आईन्स्टाइन ने अपने सापेक्षतावाद के सिद्धांत से इन पुराने सिद्धांतों में संशोधन किया और उन्हें अधिक कार्यक्षम बनाने के साथ-साथ यह भी बता दिया कि हमारी बुद्धि की आकटन शक्ति मर्यादित है। हमें जो कुछ ज्ञान प्राप्त है वह दृश्य सापेक्ष है या यों कहें कि वह दृष्टा पर अवलम्बित है। ऐसी स्थिति में यह संभव है कि सृष्टि हमें जिस रूप दिखाई देती है बाहर से देखने पर शायद वह वैसी दिखाई न दे। इतना ही नहीं, श्री आईन्स्टाइन ने यह सिद्ध करके कि वस्तु का रूपान्तर शक्ति में हो सकता है भौतिकशास्त्र के क्षेत्र में एक जबरदस्त क्रांति कर दी है। तथा शक्ति के नये स्त्रोत उपलब्ध कर दिये हैं। उन्होंने बता दिया कि न्यूटन के सिद्धांत चिरन्तन नहीं हैं। चिरन्तन सिद्धांतों को तो

अभी खोज करनी है। पता नहीं उनका ज्ञान कभी प्राप्त हो भी सकेगा या नहीं। इस प्रकार एक ओर उन्होंने शक्ति के नये स्त्रोत उपलब्ध करवाये और दूसरी ओर यह प्रतीत भी करवादी कि अभी ज्ञान का एक बहुत बड़ा क्षेत्र ऐसा है जिसके बारे में हमें कुछ मालूम नही है। ज्ञान के क्षेत्र में मानव जाति के लिए यह विचार वरदान जैसा ही है। क्यों-कि मानव समाज की उन्नति इस विचार में ही निहित है कि अभी हमे बहुत कुछ सीखना समझना है। 'हमें सब कुछ मालूम है'—यह तो जड़ता पैदा करने वाला विचार है इस जड़ता-पूर्ण विचार से ऊपर उठाने का श्रेय आईन्स्टाइन को ही है। अतः यदि हम यह कहें कि वे एक नवीन शास्त्रीय युग के प्रवर्तक हैं तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। यदि उनके जीवन के प्रमुख सन्देश शान्ति का उनके शोध कार्यों के साथ समुचित समन्वय बैठाकर उनकी विरासत को शांति के कालमों में लगाया जा सके तो उससे और ज्यादा मानव कल्याण का कार्य क्या हो सकेगा। क्या हम उनके सन्देश को सुनने का प्रयत्न करेंगे ?